
SRI PRATAP COLLEGE

विश्व की विभूतियां

Vishav Ki Vibhutiyan.

लेखक

श्री हरिभाऊ उपाध्याय   Hari Babu upadhyay

श्री चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय, बी० एस-सी०, बी० टी०

(Comp)

1956

हिन्दी मंदिर, प्रयाग

प्रकाशक,
बृहस्पति उपाध्याय,
हिन्दी मंदिर, प्रयाग

प्रथम वार, १९४५
मूल्य
डेढ़ रुपयां

मुद्रक
अमरचंद्र जैन
राजहंस प्रेस
सदर बाजार, दिल्ली

इसका उद्देश

मनुष्य के, खासकर विद्यार्थियों के, जीवन, चरित्रगठन व गुण-विकास पर महापुरुषों के जीवन-चरित्रों का जितना असर होता है उतना उनके उपदेशों या नीति-नियमों का नहीं । जीवनचरित्र पढ़ने से जो प्रेरणा, बल व प्रत्यक्ष उदाहरण का पाठ मिलता है वह दूसरे प्रकार की पुस्तकों से नहीं। जीवनियां पढ़ना मानो उन जीवित या मृत महापुरुषों की संगति से ही लाभ उठाना है। इस लाभ को ध्यान में रखकर ये जीवनियां लिखी गई हैं। विद्यार्थी इनसे ज्यादा लाभ उठा सकें, इस ग़रज़ से इनकी भाषा जहां सरल बनाने का यत्न किया गया है, वहां इस बात का भी ध्यान रक्खा गया है कि इनके पढ़ लेने से उनका शब्द-भण्डार समृद्ध हो जाय। ये जीवनियां केवल विद्यार्थियों व उनके हित को ध्यान में रखकर ही लिखी गई हैं। अतः यदि उनमें यह पुस्तक प्रिय हुई तो और भी ऐसे जीवन-संग्रह लिखने का प्रयत्न किया जा सकेगा।

अजमेर
तिलक पुण्यतिथि
१६४५

हरिभाऊ उपाध्याय

1985

क्रम

: १ :

महात्मा गांधी

[मोहनदास करमचन्द गांधी]

अपने राष्ट्र का एक ऐसा महान नेता, जिसे किसी भी बाह्य शक्ति से सहायता प्राप्त नहीं है, एक ऐसा राजनीतिज्ञ, जिसकी सफलता न तो बुद्धि-कौशल न योजनाओं पर बल्कि महज अपने व्यक्तित्व की विश्वासोत्पादक शक्ति पर निर्भर है, समझदारी और नम्रता की साकार प्रतिमा निश्चय और अविचल दृढ़ता के हथियारों से सुसज्जित, एक ऐसा विजयी योद्धा जिसने सदैव पशुबल से घृणा की तथा अपनी सारी शक्ति राष्ट्र के उत्थान और कल्याण में लगा दी, एक ऐसा मनुष्य जिसने यूरोप की पशुता का मुकाबला एक सीधे-सादे मानव प्राणी की भांति किया और इस कारण जो सर्वदा के लिए उससे ऊपर उठ गया।

हो सकता है कि आने वाली पीढ़ियां इस बात पर कठिनाई से विश्वास करें कि इस प्रकार का कोई रक्त-मांस वाला पुरुष पृथ्वीतल पर उत्पन्न हुआ होगा।

—ऐन्स्टिन

भावना, ज्ञान व कर्म इन तीनों के मेल से मनुष्य का जीवन परिपूर्ण होता है। फिर भी हम देखते हैं कि किसी का जीवन भाव-प्रधान, किसीका ज्ञान या विचार-प्रधान व किसीका कर्म-प्रधान होता है। लेकिन महात्मा गांधी के जीवन में हम इन तीनों मानवी-गुणों का चरम विकास देखते हैं। उत्कट व निर्मल भाव, शुद्ध व सात्विक विचार तथा अविरत सेवामय व निष्काम कर्म उनके जीवन में निखरे व निखरे दीखते हैं। इसीसे वह महात्मा व महापुरुष के पद को प्राप्त हुए हैं। जिस 'सत्याग्रह' नामक जीवन-सिद्धान्त का वह प्रचार कर रहे हैं, वह इन तीनों अवस्थाओं में ओत-प्रोत मिलता है।

बचपन से ही सत्यनिष्ठा

वैसे उनका जन्म २ अक्टूबर १८६९ ईस्वी (आश्विन कृ० १२, संवत् १९२५) को काठियावाड़ के एक वैश्यकुल में हुआ। उनके पिता पोरबन्दर व राजकोट के एक तेजस्वी दीवान थे। बचपन में एक सत्यनिष्ठा को छोड़कर गांधीजी में ऐसी कोई विशेषता नहीं थी जिससे लोगों को उनके महापुरुष होने का कोई संकेत मिलता। विद्यार्थी-जीवन में लुक-छिपकर मांस खाने व उसके खर्च के लिए सोने के कड़े का टुकड़ा बेचने की घटना उनकी सत्यनिष्ठा का परिचय देती है। माँस खा तो लिया परन्तु उन्हें ऐसा प्रतीत होता था मानो बकरा पेट में बें-बें कर रहा है। अन्त को पत्र लिखकर सारी कथा अपने पिताजी को सुना दी व क्षमा मांगी। तब जाकर उन्हें शांति प्राप्त हुई। इसी सत्यनिष्ठा ने आगे चलकर दक्षिण अफ्रिका में सत्याग्रह को जन्म दिया। गांधीजी इसे अपने जीवन का परम सिद्धान्त मानते हैं। प्रेमपूर्वक सत्य की एकाग्र-साधना से जो बल उत्पन्न होता है, उसे उन्होंने सत्याग्रह कहा है।

हाईस्कूल तक की पढ़ाई काठियावाड़ में पढ़कर वह बैरिस्टरी के लिए इंग्लैण्ड गये। माता उनकी बड़ी धर्मनिष्ठ थीं। उन्होंने इनसे तीन प्रतिज्ञाएं कराई, तब इंग्लैण्ड जाने की अनुमति दी। (१) शराब न पीना (२) मांस न खाना व (३) पर-स्त्री को माता के समान समझना। गांधीजी की सत्यनिष्ठा का इस बात से भी पूरा प्रमाण मिलता है कि वहां उन्होंने इन बातों का अक्षरशः पालन किया। पश्चिमी सभ्यता की कुछ बातों—गाना-नाचना—के चक्कर में वह थोड़े-बहुत जरूर आये, परन्तु उनकी जाग्रत सत्य-प्रियता ने उन्हें वहांकी अन्य बुराइयों से बाल-बाल बचाया। यहां तक कि जब एक युवती उनसे प्रेम-सम्बन्ध बांधने लगी तो उन्होंने उसकी माता से साफ कह दिया कि मैं विवाहित हूं, जबकि और हिन्दुस्तानी युवक अपने विवाह की बात छिपाकर वहां शादियां कर लिया करते थे।

बैरिस्टरी पास करके वह हिन्दुस्तान में आये, पर बैरिस्टरी चली नहीं। एक बार अदालत में खड़े हुए तो चक्कर आ गया; काठियावाड़ में एक

गोरे साहब से मिलने गये तो उसने चपरासी से निकलवा देने का हुक्म दिया। इस अपमान ने गांधीजी की आत्मा को कुछ जाग्रत किया। बाद में वह एक दीवानी मुकदमे के सिलसिले में १८९३ ईस्वी में दक्षिणी आफ्रिका गये तो वहांके निवासी भारतीयों के अपमानपूर्ण जीवन को देखकर इन्हें बड़ा दुःख हुआ। खुद भी रेल में, गाड़ी में, होटल में, अदालत में तरह-तरह के अपमान सहे; तब इनसे न रहा गया व वकील का जीवन छोड़कर एक सेवक का जीवन अंगीकार किया। वहांके भारतीयों को नागरिकता के समान अधिकार दिलाने के लिए गोरों की पक्षपातपूर्ण नीति का विरोध करने के लिए एशिया-विरोधक कानून, गिरमिटिया-प्रथा, ३ पौंड का टैक्स, अंगूठे का निशान देने के कानून के खिलाफ भिन्न-भिन्न अवसरों पर सत्याग्रह की लड़ाई ठानी व उनमें उस समय बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त की। तब वह कर्मवीर गांधी के नाम से संसार में विख्यात हुए। टालस्टाय, रास्किन, रूसो, थोरो, के विचारों का उनके जीवन पर बड़ा असर हुआ था, जिससे अहिंसा, सादा व क्षमापूर्ण जीवन के आदर्शों के प्रति उनका बहुत झुकाव हो गया। इन्हींसे शांतिमय प्रतिकार या 'सत्याग्रह' की पद्धति का जन्म हुआ।

सत्याग्रह का जन्म

दक्षिण आफ्रिका में उन्होंने अपने आदर्शों को कार्यान्वित करने के लिए फीनिक्स आश्रम खोला; सत्याग्रह के भाव का प्रचार करने के लिए 'इंडियन ओपीनियन' नामक अखबार निकाला व भारतीयों के जनमत को शिक्षित व संगठित करने व उनकी ओर से अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए आवाज बुलन्द करने के उद्देश्य से 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' नामक संस्था को जन्म दिया। उनके जीवन के वे कई प्रयोग, जैसे सत्याग्रह के अलावा शारीरिक श्रम, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, आदि जिनके द्वारा वह आगे भारतवर्ष में 'महात्मा' पदवी को पहुंच गए, दक्षिण आफ्रिका में ही हुए। जो तप व साधना उन्होंने दक्षिणी आफ्रिका में की वही हिन्दुस्तान में आकर बहुत-कुछ फूली-फली।

महामान्य गोखले से उनकी घनिष्टता दक्षिण आफ्रिका में ही हो गई थी। उनके व्यक्तित्व से वह इतने प्रभावित हुए थे कि उन्हें उन्होंने अपना 'राजनैतिक गुरु' कहा है। स्व० गोखले की आज्ञा से उन्होंने १ वर्ष तक सारे भारत में प्रवास किया, जगह-जगह की परिस्थिति का अच्छी तरह सूक्ष्म निरीक्षण किया व अहमदाबाद में 'सत्याग्रहाश्रम' खोला। इसमें कताई-बुनाई की शिक्षा के अलावा सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्तेय, अभय, स्वदेशी, अस्वाद, शरीर-श्रम; सर्वधर्म-समभाव, अस्पृश्यता-निवारण, इन व्रतों के पालन का अभ्यास कराया जाता था। 'सर्वोदय' नामक पुस्तक में उन्होंने 'अहिंसात्मक स्वराज्य' के जिस आदर्श का चित्र उपस्थित किया है उसीको व्यवहार में लाने का यह प्रयास समझा जा सकता है।

भारत में सत्याग्रह के प्रयोग

भारत में आते ही उन्होंने अपने नवीन 'सत्याग्रह' नामक शस्त्र का प्रयोग यहां की समस्याओं को हल करने में किया। वह सीधे एकाएक राजनैतिक क्षेत्र में नहीं आये। समस्यायें व परिस्थितियाँ जैसे-जैसे उन्हें उसकी ओर स्वाभाविक रूप से खींचती जाती थीं वैसे-ही-वैसे वह उसकी तरफ आगे बढ़ते जाते थे। सत्याग्रही किसी के सिर पर ज़बरदस्ती चढ़कर नहीं बैठता। जब परिस्थिति की आवश्यकता व कर्त्तव्य का तकाजा होता है, तब वह बड़े-से-बड़े साहस व जोखिम उठाने में भी नहीं हिचकिचाता।

गांधीजी अपने विचारों व सिद्धान्तों के बड़े ही दृढ़ आदमी हैं। जहाँ कोई बात जंची नहीं कि उसको अमल में लाये बिना उन्हें चैन नहीं पड़ती। वह कोई काम आधे दिल से नहीं करते। वह अहिंसा के पुजारी हैं, अतः उन्होंने आतंकवादियों के हिंसात्मक कार्यों की जब तब निन्दा करने में कसर नहीं की; पर साथ ही उनका यह भी सिद्धान्त है कि 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।' अतः हिंसात्मक प्रवृत्तियों की निन्दा करते हुए भी हिंसक-व्यक्तियों से उन्होंने सदा ही प्रेम का व्यवहार किया है। वह कूटनीति को बुरा समझते हैं व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में—राजनीति में भी—सत्य-सरल

नीति को ही श्रेष्ठ मानते हैं। अतः भारत में आते ही उन्होंने तरह-तरह से सम्भव अहिंसात्मक रीति-नीति का प्रचार आरम्भ किया। १९१५ में कलकत्ते में उन्होंने राजनैतिक डाके व खून के खिलाफ भाषण दिया। उन्होंने कहा—इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसे खून से किसी का हित नहीं हुआ। इसी वर्ष मदरास इलाके में उन्होंने अस्पृश्यता के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाई थी। १९१६ में काशी-विश्वविद्यालय के शिलारोपण के अवसर पर देशी नरेशों को लक्ष्य करके बड़ा कड़ा भाषण दिया। इनसे उनकी स्पष्टवादिता, निर्भीकता, खरेपन व साहस की लोगों पर बड़ी छाप पड़ी व लोग उनकी ओर आकर्षित होने लगे।

चम्पारन व खेड़ा में सत्याग्रह के प्रयोग हुए तबतक गांधीजी ब्रिटिश साम्राज्य के भक्त थे। दक्षिण अफ्रिका के बोअर-युद्ध में, तथा पिछले अंग्रेज-जर्मन-युद्ध में उन्होंने सरकार का साथ दिया था।

परन्तु जलियांवाला-बाग के गोलीकाण्ड ने उनकी राजभक्ति की जड़ हिला दी। यों अंग्रेज जाति के वह परमहितैषी हैं, उसके गुणों पर मुग्ध हैं, परन्तु उनकी साम्राज्य पद्धति के अब वह कट्टर विरोधी होगए हैं।

दोष हमारा है

गांधीजी ने १९२० में असहयोग आन्दोलन शुरू किया, जिसका मुख्य उद्देश्य था हिन्दुस्तान में स्वराज्य की स्थापना। इसमें एक ओर जहां कई सरकारी संस्थाओं से असहयोग की घोषणा की गई तहां दूसरी ओर स्वदेशी, खादी, अस्पृश्यता-निवारण, राष्ट्रीय-एकता, शिक्षा-प्रचार आदि रचनात्मक कार्य पर भी जोर दिया। यद्यपि गांधीजी ने ब्रिटिश शासन के बहुत से दोष बताये हैं, तो भी वह यही मानते हैं कि हिन्दुस्तानियों के पराधीन होने में मुख्य दोष खुद उन्हींका है। और जब तक वे अपने उन दोषों और कमियों को दूर नहीं करते तबतक उन्हें स्वराज्य नहीं मिल सकता, न वह टिक ही सकता है। शुरू में जो रचनात्मक कार्यक्रम चतुर्मुखी था वह उन्होंने अब अनुभव से १४ मुखी बना लिया है, जिसके अंग इस प्रकार हैं—(१) खादी, (२) ग्रामोद्योग, (५) नई तालीम, (४) किसान-सेवा'

(५) मजूर-संगठन, (६) राष्ट्रीय एकता, (७) अस्पृष्यता निवारण, (८) हिन्दुस्तानी प्रचार, (६) गोसेवा, (१०) आदि निवासी सेवा, (११) स्त्रीसेवा, (१२) स्वच्छता और आरोग्य, (१३) रोग-निवारण, (१४) मद्यपान निषेध और (१५) विद्यार्थी-संगठन।

असहयोग के इस प्रारंभिक काल में १६१८ की कलकत्ता कांग्रेस के समय से गांधीजी का सीधा प्रवेश व प्रभाव कांग्रेस पर पड़ने लगा। और १६२०-२१ की नागपुर और अहमदाबाद कांग्रेस को गांधी-कांग्रेस ही कहना चाहिए। इस बीच उन्होंने गुजराती और हिन्दी में 'नवजीवन' तथा 'हिन्दी नवजीवन' व अंग्रेजी में 'यंग इण्डिया' नामक तीन साप्ताहिक पत्र निकाल दिए थे। लेखक के नाते भी गांधीजी का बड़ा ऊंचा स्थान है। उनकी बड़े-बड़े अंग्रेजीदां सुलेखक भी प्रशंसा करते हैं। सरलता, सुबोधता, व संक्षिप्तता उनकी भाषा के प्रधान गुण हैं। उनकी भाषा सीधी हृदय में बैठ जाती है।

अनशन या उपवास को गांधीजी के सिद्धान्त व जीवन में बड़ा स्थान है। अपना दोष मालूम होने पर आत्मशुद्धि के लिए अथवा अपने साथियों, मित्रों, कुटुम्बियों के दोषों का अपने को जिम्मेदार मानकर उन्होंने कई बार छोटे-बड़े उपवास किये हैं। वह मानते हैं कि जिन कामों व आन्दोलनों को मैं चलाता हूं उनमें दोष और बुराई पैठ जाती है तो उसमें मेरी जिम्मेदारी है।

निराला अभियुक्त

अहमदाबाद कांग्रेस के बाद गांधीजी ने वायसराय को अन्तिम सूचना दी कि एक वर्ष में स्वराज्य की घोषणा करो नहीं तो मैं बारडोली से सामूहिक सत्याग्रह करूंगा। उसी सिलसिले में चौरीचौरा में जनता की ओर से हत्याकाण्ड हो जाने से उन्होंने सत्याग्रह स्थगित करदिया। सरकार ने उन पर मुकदमा चलाया। छः साल की सजा दी। उस समय गांधीजी ने एक सच्चे सत्याग्रही की भांति कहा—"सरकारी वकील ने जो इल्जाम मुझ पर लगाये हैं उन सबको मैं मानता हूं। मैं मंजूर करता हूं कि

चौरीचौरा और बम्बई के हत्याकाण्डों की जिम्मेदारी से मैं अपने को अलग नहीं कर सकता।" जज ने भी अपने फैसले में लिखा है, "अब-तक आपके जैसे आदमी के मुकदमे सुनने का काम न मुझे पड़ा न आगे पड़ने की संभावना है। आप औरों से निराले ही आदमी हैं। यह सच है कि आप अपने करोड़ों देशवासियों की आंखों में एक बड़े देश-भक्त और महान नेता हैं। जो राजनीति में आपसे मतभेद रखते हैं वे भी आपको उच्च आदर्श रखने वाला और भद्र-पुरुष, नहीं, एक सन्त मानते हैं और यदि कभी सरकार ने आपको छोड़ दिया तो सब से ज्यादा खुशी मुझे होगी।" इन्हें छः सालकी सजा दी गई थी लेकिन अपेण्डिसाइटिस के आपरेशन के कारण दो साल में ही छोड़ दिये गए। छूटने के बाद जगह-जगह साम्प्रदायिक प्रचार के कारण दंगे हुए और गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए २१ दिन का उपवास किया। १६२६ तक खादी-प्रचार, अस्पृश्यता-निवारण, राष्ट्रीय एकता आदि रचनात्मक कामों में व्यस्त रहे। १६२६ में लाहौर कांग्रेस का ध्येय 'पूर्ण स्वराज्य' करदिया गया। उसकी प्राप्ति के उद्देश्य से नमक-सत्याग्रह का नेतृत्व किया। दिल्ली में फिर गांधी-इरविन-समझौते के द्वारा अस्थायी सुलह होकर दूसरी गोल-मेज परिषद में सारे भारत के एकमात्र प्रतिनिधि बन कर इंग्लैंड गये। उसके बाद फिर सत्याग्रह शुरू हुआ और १६३४ में, बम्बई कांग्रेस से, वह कांग्रेस से अलग हो गए। फिर भी आज तक वह कांग्रेस के सर्वोपरि नेता का स्थान प्राप्त किये हुए हैं।

उनका जीवनोद्देश्य

हिंसा, कलह, पारस्परिक द्वेष तथा शोषण से पीड़ित मनुष्य-जाति के लिए अहिंसा और सत्याग्रह उनकी अमूल्य देन है। भारत के इस महापुरुष को कई बार उपवास और अनशन की तपस्या में अपने को तपाना पड़ा है। मानव-जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं है जिसको इसने स्पर्श न किया हो। भारतीय जीवन का कोई ऐसा भाग नहीं है जिसको सुधारने का इन्होंने यत्न न किया हो।

उनके जीवन का उद्देश्य अपनी आत्मा को विश्व की आत्मा में मिला देना है, जिसको वह आत्म-साक्षात्कार या ईश्वर-दर्शन कहा करते हैं। उनसे मतभेद और विरोध रखने वाले आदमी भी उनके महान चारित्र्य-बल की प्रशंसा करते हैं। उनकी सरलता से बड़े-बड़े नीति-कुशल भी प्रभावित होकर जाते हैं। उनकी हंसी में ऐसी मोहिनी है कि मनुष्य उनके सामने जाते ही आधा पराजित हो जाता है। उनके इस अद्भुत आकर्षण का रहस्य है उनकी अहिंसा की साधना। सत्य का ऐसा साहसी साधक संसार में शायद यह पहला ही है। सत्य के पथ पर चलते हुए बड़ी से बड़ी जोखम भी उन्हें भयभीत नहीं कर पाती। भावना, विचार व कर्म तीनों में सत्य की साधना का ही दूसरा नाम सत्याग्रह है। हमारा बड़ा भाग्य है कि ऐसे महान सत्याग्रही के समय में हम जीवित हैं।

: २ :

रूस का महात्मा

[काउंट लियो टाल्सटाय]

यूरोप का अशोक

आजसे पौने दो हज़ार वर्ष पूर्व भारत में एक राजकुमार का जन्म हुआ। दास-दासियां, वैभव-विलास शक्ति-अधिकार सभी उसके इंगित की प्रतीक्षा में थे। वह शूरवीर था, साहसी था और था कुशाग्र-बुद्धि। युग की प्रवृत्तियों का प्रभाव हुआ, देशों को जीतने की इच्छा प्रबल हुई और एक बड़ी-सी सेना के साथ उसने कलिंग पर आक्रमण किया। हज़ारों लाखों मनुष्यों की हत्या, मार-काट; करुण चीत्कार से उत्पन्न विलाप, दुदर्शा, पीड़ा, विनाश सभी जैसे एकत्रित होकर उससे हृदय में रो पड़े। राजकुमार को अपने कृत्य से घृणा हो गई। इस आघात से जैसे उसकी कठोर प्रवृत्तियां टूक-टूक हो गईं और साथ ही सोई हुई कोमल-वृत्तियां जीवित और जाग्रत हो पड़ीं। हिंसक अहिंसक हो गया, कठोर कोमल और पशु-बल का प्रेमी मानवता का उपासक हो गया। वह सत्य-अहिंसा और धर्म का पुजारी बन गया और जीवन भर स्वयं इनका पालन करता हुआ करोड़ों व्यक्तियों को सन्मार्ग दिखाता एवं सुलभ बनाता हुआ इतिहास में 'महान्' हो गया।

आज फिर हमने देखा कि पश्चिम में इसी प्रकार राजभवन में उत्पन्न एक राजकुमार ने आरम्भ में बड़ा विलासी जीवन व्यतीत किया। उसके पास भी वैभव-विलास के सामान प्रस्तुत थे; उतने अधिक रूप में नहीं, फिर भी थे अवश्य। उसने इन्हींको जीवन का वास्तविक आनन्द समझ कर अपनेको पूरी तरह उसीमें डुबो दिया। वह वीर था, साहसी था और था उत्साही। उसने लड़ाइयां लड़ीं, द्वन्द-युद्ध किये और जीवन के कई भयंकर दृश्य देखे। एकाएक उसकी आत्मा हाहाकार कर उठी।

उसने युद्ध करना छोड़ दिया, विलासी जीवन त्याग दिया और सदाचार तथा पवित्र जीवन की ओर अग्रसर हुआ। उसने स्वयं प्रकाश प्राप्त करके पश्चिम के करोड़ों व्यक्तियों को प्रकाश दिखाया। उसकी मृत्यु हुए अभी कोई ३५ ही वर्ष हुए किन्तु अपनी इस महानता के कारण जैसे वह वास्तविक जीवन का मार्ग दिखाता हुआ आज भी अमर है। इन्द्र-लोक, चन्द्र-लोक किसी लोक में अमरता नहीं है। इसी पृथ्वी ने किन्हीं-किन्हीं लोगों को अमरता प्रदान की है। उन्हीं इने-गिने महा-मानवों की कीर्ति के बीच महात्मा टाल्सटाय की कीर्ति सदैव चमकती रहेगी।

बचपन

टाल्सटाय का जन्म रूस देश में टूला के निकट यासनाया पोलयाना नामक ग्राम में २८ अगस्त, १८२८ ईसवी, को हुआ। टाल्सटाय के माता-पिता दोनों ही उच्च घराने के थे। टाल्सटाय-वंश रूस के इतिहास में प्रसिद्ध है। इस वंश को 'काउण्ट' की उपाधि प्राप्त थी। टाल्सटाय की माता भी एक उच्च घराने की रमणी थीं उसके बहुत से निकट सम्बन्धी बड़े बड़े सेनापति रह चुके थे। टाल्सटाय के पिता का नाम काउण्ट निकोलस टाल्सटाय और माता का नाम प्रिन्सेज़ मेरी बालकन्सकी था। रवीन्द्रनाथ टेगोर की ही भांति बाल्यावस्था में उनकी माता का देहान्त होगया। उस समय वह एक वर्ष और दो मास के थे। कुछ ही वर्षों बाद जब उनकी अवस्था ६ वर्ष की हुई, उनके पिता भी चल बसे। इस समय टाल्सटाय के चार भाई और एक बहन थी। परिवार में उनके पालन-पोषण का भार उनकी फूफी पर पड़ा किन्तु वास्तव में तो वह टटियाना यरगोल्सकी नामक एक उदार और सच्चरित्र महिला की देख-रेख में रहे। यह महिला बड़ी ही उदार और आदर्श थी। वह स्वयं टाल्सटाय के पिता पर आसक्त थी और वह भी उससे विवाह करना चाहते थे; किन्तु एक उच्च वंश की स्त्री से उनका विवाह कराने के खातिर उसने उनसे विवाह नहीं किया। टाल्सटाय की माता के मर जाने पर फिर विवाह का समय आया। किन्तु उसने फिर भी ऐसा नहीं किया—

केवल इसी विचार से कि बालकों की ओर शायद उनके पिता की उपेक्षा बढ़ जायगी और वह अपनी पहिली पत्नी को भूल जायंगे। उनके निधन पर उसने उनके पालन-पोषण का कार्य पूरी तरह अपने ऊपर ले लिया और माता की भांति उनका पालन-पोषण किया। इस प्रकार की उदारता एवं सच्चरित्रता के उदाहरण संसार के इतिहास में बहुत कम मिलेंगे। इस उदार महिला की देख-रेख में उनका पालन-पोषण होने लगा। वह टाल्सटाय पर बहुत प्रेम करती थी। उसके प्रेम का टाल्सटाय पर बहुत प्रभाव भी पड़ा। उसके प्रेम ने उन्हें प्रेम में रंग दिया, वह प्रेम के आनन्द को समझने लगे। अपनी इस नई माता के प्रभाव के ही कारण टाल्सटाय ने दूसरा महत्वपूर्ण पाठ जो पढ़ा वह था शान्त तथा एकान्त जीवन के सौंदर्य के प्रति आकर्षण। टाल्सटाय अपनी बाल्यावस्था में ही अपने आसपास के भाई-बहनों तथा अन्य पड़ोसियों से भी प्रेम करते थे। उनकी अपने बड़े भाई निकोलस से बहुत पटती थी। इस छोटी ही उमर में उनमें विश्व-बन्धुत्व तथा विश्व-कल्याण की भावना मौजूद थी। उन दोनों ने मिलकर इस छोटी उम्र में ही 'आन्ट ब्रदर्स' नामक एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य था संसारभर के लोगों को भ्रातृप्रेम में बांधना। इस संस्था की स्मृति में पहाड़ी पर पेड़ की एक हरी डाली रोपी गई।

नारकीय जीवन

टाल्सटाय तथा उसके भाई विद्याध्ययन के लिए काज़न के विश्व--विद्यालय में भेजे गये। टाल्सटाय ने पहिले राजदूत बनने के विचार से पूर्वी देशों की भाषा सीखने का प्रयत्न किया, किन्तु मन न लगा। उन्होंने कानून का अध्ययन आरम्भ किया, किन्तु इसमें भी मन न लगा। अन्त में असन्तुष्ट होकर कालेज छोड़ दिया और यासयाना नामक ग्राम में चले गये। थोड़े ही दिनों बाद वह पेट्रोग्रेड चले गये। यहांका उनका जीवन बहुत बुरा रहा। वह भोग-विलास में पड़ गये और आत्मिक तथा नैतिक दृष्टि से उनका बहुत पतन हुआ। इस समय के

जीवन का चित्र जब-जब टाल्सटाय की आंखों के सामने खिंचा तब-तब उन्हें बड़ी ग्लानि और घृणा उत्पन्न हुई। उन्होंने युद्धों में नर-हत्यायें कीं, द्वन्द-युद्ध किये, जुआ खेला, दुराचारिणी स्त्रियों से सम्बन्ध रखा और लोगों को धोखा दिया। झूठ, लूट-मार, मद्यपान, निर्दयता, हत्या आदि सभी बुरे काम उन्होंने किये। इसी प्रकार का जीवन उन्होंने १० वर्ष तक व्यतीत किया।

अब रूसी तोपखाने के साथ वह काकेशस चले गये। वहां लगभग तीन वर्ष रहे। यह तीन वर्ष का जीवन उनके शारीरिक एवं मानसिक बल को बढ़ाने में अच्छा सिद्ध हुआ। आने के एक वर्ष बाद १८५२ में 'बचपन' नामक उनका पहिला उपन्यास प्रकाशित हुआ। समालोचकों ने इस पहिले ही ग्रन्थ की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। १८५३ ई० में प्रधान सेनापति प्रिन्स गर्चाकफ के स्टाफ में स्थान मिल जाने के कारण सेवस्टोपोल चले गये। भयंकर से भयंकर काम करने के लिए तैयार हो जाने की आदत के कारण यहां उनकी जान कई बार बाल-बाल बची। थोड़े ही दिन बाद 'सेवस्टोपोल की कहानियां' प्रकाशित हुईं जिसने उनको बहुत प्रसिद्ध कर दिया। जार का ध्यान भी इस पुस्तक के कारण टाल्सटाय की ओर आकर्षित हुआ।

जीवन में क्रांति

सेवस्टोपोल में ही पहिली बार उनके विचारों में क्रांति हुई। उन्होंने सेवस्टोपोल के अस्पताल में २२ हजार व्यक्तियों को कष्ट सहते देखा, जो कि युद्ध में तोपों और बन्दूकों से आहत हो चुके थे। वीरता और उसका दुःखान्त परिणाम देखकर उनके विचारों को एक धक्का-सा लगा और उनकी दिशा बदल गई। उनमें उदारता व सदाशयता का उदय हुआ। वह सैनिक वैभव के एकान्तिक भाव से तंग आगये और पीटर्सबर्ग चले गये। १८५७ ई० में उन्होंने योरप-यात्रा के लिए प्रस्थान किया। पेरिस में उन्होंने एक आदमी को फांसी दिये जाते हुए देखा। इस हृदय-विदारक दृश्य से उनके कोमल हृदय को बड़ा आघात लगा और वह प्राण-

दण्ड की प्रथा के विरोधी होगये। उन्होंने स्वीजरलैण्ड, जिनोवा आदि की भी यात्रा की और इस यात्रा में जब अंग्रेज-यात्रियों के गर्वपूर्ण व्यवहार को देखा तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। सन् १८६० में उनके बड़े भाई का देहान्त होगया। अपने भाई की मृत्यु की घटना का प्रभाव उनपर बहुत पड़ा। उनके हृदय पर जीवन के दुःखद परिणाम का चित्र अंकित होगया। विलासी जीवन, युद्ध की भयानकता, फांसी और मृत्यु एक के बाद एक उनके विचारों में क्रान्ति मचाते गये। यही उनके महात्मापन की भूमिका है। उनके हृदय में सत्यान्वेषण की चाह बलवती होती गई।

विचारों की दिशा बदलने के साथ ही उनके कार्य की दिशा भी बदली। उन्होंने आरम्भिक शिक्षा की समस्या का अध्ययन फ्रांस, जर्मनी इग्लैंड जाकर किया और रूस में किसान गुलामों के आजाद होते ही १८६१ में उनके लिए स्कूल खोल दिये। स्कूल में छात्रों को काफी स्वाधीनता थी। अतः अधिकारियों की वक्र-दृष्टि उनपर पड़ी और उनको वे बन्द करने पड़े। जब किसानों और सरदारों में भूमि बांटने का प्रश्न आया तो उन्होंने सदैव किसानों का पक्ष लिया।

यदि इस समय तक के टाल्सटाय के विचारों की कहानी देखें तो प्रतीत होता है कि संदेह-सागर में डुबकी लगाती हुई तथा संसार की वास्तविकता से अनभिज्ञ चारो ओर अंधकार अनुभव करती हुई किसी महान् आत्मा की कैसी दशा होती है। विचारों की क्रांति का यह इतिहास अविश्वास और अश्रद्धा से आरंभ होता है। जब वह १२ वर्ष के ही थे कि एक लड़का उनके पास आया और कहने लगा कि स्कूल में एक नया अन्वेषण हुआ है और वह यह कि ईश्वर कोई चीज नहीं है। जो कुछ ईश्वर के सम्बन्ध में कहा गया है वह एक मनगढ़न्त है। लड़के की यह बात उनको मनोरंजक मालूम हुई। अपने बड़े भाई डिमेट्री को प्रतिदिन गिर्जा में जाते हुए और व्रत रखते देखकर वे उसपर हँसा करते थे। इस समय उनका यह विश्वास था कि उनकी श्रेणी के लोग नास्तिक होते हुए भी

पुरानी बातों पर विश्वास रखनेवाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक प्रतिभाशाली, ईमानदार और पवित्र होते हैं। पुराने विचारवाले अल्पज्ञ कठोर और मक्कार होते हैं। किन्तु इस अविश्वास और अश्रद्धा के होते हुए भी सत्य को जानने की उनकी इच्छा कम न हुई। किन्तु इस दिशा में उनका कोई साथी नहीं था। जब लोगों ने उनकी इस प्रवृत्ति का परिचय पाया तो उनकी हँसी उड़ाई और उनसे घृणा करने लगे किन्तु जब उन्होंने पाशविक प्रवृत्तियां प्रकट कीं तो लोगों ने उनकी प्रशंसा की। उन्होंने सांसारिक वासना, विषय-भोग, घमण्ड, क्रोध, बदला, आदि का समाज में बड़ा मान देखा। वह इनकी ओर दौड़े, इन पर अधिकार भी कर लिया; किन्तु इनकी वास्तविकता का पता लगते ही उन्हें यह जानकर दुःख हुआ कि अरे बहुत बड़ा धोखा हुआ। जिसे वह सत्य और अच्छा समझते थे वह तो असत्य और नितान्त बुरा निकला। उन्होंने हृदय से अपने आपको इस कृत्य के लिए धिक्कारा। अपने नये प्रकाश में जब उन्होंने अपने सारे कृत्यों को देखा तो उन्हें प्रतीत हुआ कि उन्होंने अब तक ग्रन्थ-रचना भी नाम और धन के लोभ से की है और इसलिए अपने ग्रन्थों की स्वयं कड़ी अलोचना की।

सन् १८६२ ई० में टालसटाय का विवाह सोफिया बेहर्स नामक युवती से हुआ। विवाह के बाद के कुछ वर्ष बड़े आनन्द से बीते। इन्हीं दिनों उन्होंने 'युद्ध और शान्ति' तथा 'आना केरीनि' नामक दो उपन्यास प्रकाशित कराये। इन उपन्यासों ने उनकी रचना-कौशल की धूम सारे योरप में मचादी। साहित्य-सम्बन्धी कामों में उनको अपनी धर्मपत्नी से बड़ी सहायता मिलती थी। उनका लेखन अच्छा नहीं था, इसलिए प्रेस के लिए उनके हस्त लिखित ग्रन्थों की शुद्ध और सुन्दर नकल वही करतीं थीं।

दार्शनिक प्रभाव

उनकी आयु के ५० वर्ष व्यतीत हो गये थे। अब उनके जीवन में एकदम परिवर्तन हुआ। यद्यपि उनके पास काफी संपत्ति थी; लेखन-कला की कीर्ति चारों ओर फैल चुकी थी और दाम्पत्य-जीवन भी सुखमय था,

तथापि वह जीवन से असंतुष्ट हो गये। उन्हें चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगा और जीवन निस्सार प्रतीत हुआ। बात यह थी कि वह युवावस्था से ही दार्शनिक तथा धार्मिक समस्याओं पर विचार किया करते थे। वह उस समय जीवन-समस्या को सुलझा न सके। उन्हें अपने प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर नहीं मिला था। वह स्वभाव से चिन्तनशील तो थे ही। भोग-विलास के जीवन में कुछ दिनों के लिए वह ये सब समस्यायें और प्रश्न भूल अवश्य गये थे किन्तु शीघ्र ही उनकी चिन्तनशीलता फिर जाग्रत होकर उन्हें विकल करने लगी। ये समस्यायें और प्रश्न उनके सामने इतने वेग से आने लगे कि टाले नहीं टलते थे। कई बार तो इनसे व्याकुल होकर उन्होंने आत्महत्या तक कर लेने का विचार किया। अपने इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए उन्होंने फिर दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन आरंभ किया। अब वह इस परिणाम पर पहुँचे कि जीवन के लिए परिश्रम और प्रेम अत्यन्त आवश्यक हैं। मनुष्य को सरल स्वाभाव, परिश्रमी तथा दयालु होना चाहिए। समाज से जितना लाभ हमको मिलता है उससे अधिक हमें समाज की सेवा करनी चाहिए। सेवा में ही आनन्द समझना चाहिए। सदैव निडर और प्रसन्न रहना चाहिए। यदि हम अपने अपने 'अहम्' को मिटा देंगे तो हमें अपने मरने का भी डर नहीं रहेगा।

उन्होंने इस प्रकार अपनी समस्याओं का हल प्राप्त करते ही अपने जीवन को उसी प्रकार सरल एवं पवित्र बनाने का कार्य आरम्भ किया। वह निरामिष भोजन करने लगे, किसानों के-से कपड़े पहिनने लगे, मजदूरी करने लगे और लोगों की सेवा तथा उपदेश में अपना समय लगाने लगे। मादक द्रव्यों का सेवन त्याग देने से उनका स्वास्थ बहुत सुधर गया। वह अपनी सारी सम्पत्ति किसानों को दे देना चाहते थे किंतु अपनी स्त्री के कारण ऐसा न कर सके। वह विदुषी तो थी, किन्तु उस नैतिक आदर्श तक नहीं पहुंची थी जहांतक टाल्सटाय पहुंच चुके थे। रुपये का लालच छोड़ना उसके लिए कठिन था। उसे चिन्ता थी कि

निर्धन हो जाने से मेरे लड़के धन-हीन हो जायंगे। कहते हैं, एक बार तो उसने सरकार को प्रार्थना-पत्र तक भेज दिया कि मेरा पति पागल है, उसे रियासत का प्रबन्ध करने में असमर्थ घोषित कर दिया जाय। स्वार्थ व धन-लोभ के कारण मनुष्य क्या-क्या अनर्थ नहीं करता? एक विदुषी महिला अपने ही पति के विरुद्ध इस प्रकार का घृणापूर्ण कृत्य कर बैठी।

अन्त व विशेषतायें

ज़ार के निरंकुश शासन के कारण वह सदैव दुःखी रहते थे। उन्होंने अपनी "क्या करें?" नामक पुस्तक में लिखा है कि रूस में उस समय कितनी विषमता थी। एक ओर धनी विलास में डूबे रहते थे, दूसरी ओर मजदूरों को पेट भर भोजन भी नसीब नहीं होता था। क्यों? इसलिए कि धनिकों के विलास में किसी प्रकार कमी न आने पावे।

अन्त में वह शहर के जीवन से असन्तुष्ट होकर ग्रामों की ओर चले गये और पुस्तिकायें लिखने लगे जिन्हें लोगों ने बहुत पसन्द किया। चार वर्ष में ही उनकी सवा करोड़ प्रतियाँ बिक गईं। चर्च पर योग्यतापूर्ण और निर्भीक आक्षेप करने के कारण धार्मिक जगत् में हलचल मच गई। उनके बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर उन्हें चर्च से निकाल दिया गया। किन्तु इसका उल्टा प्रभाव हुआ। लोगों की श्रद्धा उनके प्रति और अधिक बढ़ने लगी। अब तो विदेशों में भी उनकी ख्याति फैलने लगी और उनका प्रभाव दिन-दूना रात-चौगुना होने लगा।

पर उनके अन्तिम दिन शान्ति से नहीं बीते। सरकार ने राजनैतिक क्रान्ति को दबाने के लिए बड़ी क्रूरता से काम लिया। उसे देखकर वह चुप न रह सके। उन्होंने एक बड़ा ही मर्मभेदी पत्र लिखा और उसे यूरोप के सभी बड़े-बड़े पत्रों में प्रकाशित करवाया।

इस पत्र में उन्होंने ज़ारशाही के अत्याचारों का बड़ा ही हृदयविदारक वर्णन किया था। सरकार की भी वक्र दृष्टि उनपर रहने लगी। इधर अपने परिवारवालों की फिजूलखर्ची से वह दुःखी थे ही। वह उनको छोड़

देना चाहते थे किन्तु यह उनके सिद्धान्तों के विरुद्ध था। अन्त में तंग आकर वह एक दिन रात्रि को, जबकि बर्फ पड़ रहा था, घर से निकल पड़े। उनके साथ उनका एक विश्वासपात्र मित्र था। उनका वृद्ध शरीर जाड़े को सहन न कर सका। उन्हें पास के ही एक स्टेशन पर ठहरना पड़ा। इसी स्टेशन के स्टेशनमास्टर के घर सन् १९१० में उन्होंने इस असार-संसार को त्याग दिया। मरते समय उन्होंने कहा कि मुझे उसी पहाड़ी पर दफनाना जहाँ मैंने और मेरे भाई ने विश्वबन्धुत्व की कल्पना से एक संस्था स्थापित करके उसकी स्मृति में एक हरी डाली रोपी थी। पादरी लोगों ने उनके अन्तिम संस्कार में भाग लेने से इन्कार कर दिया। उनके जनाजे की नमाज किसानों ने ही पढ़ी। हजारों किसानों ने उनके अंतिम संस्कार में भाग लेना चाहा, किन्तु सरकार ने उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। पाप और अत्याचार का राज्य कब तक रह सकता है? थोड़े ही समय बाद एक बहुत बड़ी क्रान्ति हुई, जिसने रूस में जारशाही का अन्त कर दिया।

महात्मा टाल्सटाय १९ वीं सदी के एक बहुत बड़े विचारक और कलाविज्ञ हुए हैं। उन्होंने अपने विचारों से सारे यूरोप में क्रान्ति की लहर फैलादी। कई लोग उन्हें आचार्य और अपना पथ-प्रदर्शक मानने लगे। गाँधीजी ने भी उनसे प्रेरणा पाई। उन्होंने लगभग ५० ग्रन्थ लिखे जिनमें उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध और विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। धर्म, समाज, कला, विज्ञान और स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध पर उनके विचार अत्यन्त मार्मिक और मौलिक हैं। जब वह किसी बात का वर्णन करते हैं तो उसका चित्र-सा खींच देते हैं। जिस बात को समझाना चाहते हैं उसे सभी सम्भव तर्कों के द्वारा सिद्ध करते हैं। उनके ग्रन्थों के अवलोकन से पता चलता है कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। वह एक महापुरुष थे, महात्मा थे। उन्होंने अपने विचारों में और कार्यों में साम्य लाने का बहुत प्रयत्न किया और इसमें बहुत अंशों में सफल हुए। वह सच्चे ईश्वरभक्त और सन्त थे। चर्च के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े ही विरोधी थे। वह उसे ईसा के

सिद्धान्तों के विरुद्ध मानते थे। ईसा के पर्वत पर के उपदेश पर वह पूरी तरह से मुग्ध थे। वह आध्यात्मिक कल्याण तथा सांसारिक सुख शान्ति के लिए उन नियमों पर चलना और व्यवहार करना अनिवार्य समझते थे। उन्होंने उनको व्यवहार में लाने का शक्ति भर प्रयत्न किया। अत्यन्त प्रतिष्ठित और समृद्धिशाली सामन्त-कुल में जन्म लेने पर भी उन्होंने अपने जीवन को सादा बना लिया।

दिव्य विचार

महात्मा टाल्सटाय के विचार बड़े ही सरल और पवित्र हैं। उनकी पुस्तक पुस्तक नहीं मनुष्य का हृदय है। 'पुस्तक को स्पर्श करना मानो उनके हृदय को स्पर्श करना है।' मानव-कल्याण और उच्चादर्शों से वह ओत-प्रोत हैं। वर्तमान जीवन की विषमता और ज्वाला में जलते हुए व्यक्तियों के लिए वह चन्दन की भांति शीतल हैं। वह श्रम पर बड़ा जोर देते थे। उनका कहना था कि 'यदि प्रत्येक व्यक्ति कृषि-श्रम को अपना कर्तव्य स्वीकार करले अर्थात् अपनी ही मेहनत से पैदा किये हुए अन्न पर गुजर करे तो मनुष्यों में एका और प्रेम बढ़ जाय और सारी यातनायें दूर हो जांय। क्योंकि जब सब अनाज पैदा करेंगे तो अनाज बिकने की चीज न रहेगा। फिर किसी की सहायता करने में किसी को असमंजस न रहेगा। उस समय आदमी भूख से आजिज होकर, धोखा देकर या उद्दण्डता करके अपना पेट भरने का उद्योग न करेगा। और जिस समय लोग सन्तुष्ट होंगे, उद्दण्डता और धोखेबाजी दुनिया से उठ जायगी। जब हम भूखे की सेवा करना चाहते हैं तो उस समय हम उसको उपन्यास पढ़कर नहीं सुनाते। अन्न और वस्त्र-हीन की सेवा के लिए हम उसके कानों में बहुमूल्य बालियां नहीं पहिनाते। इसी तरह मनुष्य-मात्र की सेवा का यह हरगिज अर्थ नहीं हो सकता कि हम सन्तुष्ट व्यक्तियों को तो और व्यसन के सामान पहुंचायें और भूखों और दारिद्रों को भूख के कारण मर जाने दें। वह कहते थे कि "जिनके पास दो कोट हैं वे एक कोट उसे देदें जिसके पास एक भी नहीं है और जिसके पास भोजन है वह भी

ऐसा ही करे।" उनका उपदेश था कि "इस पृथ्वी पर अपने लिए धन जमा मत करो; क्योंकि उसे कोई और कीड़े नष्ट कर देते हैं, अथवा चोर चुरा लेजाते हैं; किन्तु तुम स्वर्ग में अपने लिए धन जमा करो, जहाँ न काई लगती है और न कीड़े ही खाते हैं और न चोर ही दरवाजा तोड़कर उसे चुरा ले जा सकते हैं। फिर जहाँ तुम्हारा धन रहेगा वहीं तुम्हारा मन रहेगा।" धन संग्रह करने के वह बड़े विरोधी थे। इसे वह सारे पापों की जड़ मानते थे। उन्होंने कहा है कि "सूई के नकुए में से ऊंट का निकल जाना तो सम्भव है किन्तु धनवान आदमियों का स्वर्ग में प्रवेश करना असम्भव है।"

मादक द्रव्यों के सेवन के भी वह बड़े विरोधी थे। उनका कहना था कि मादक द्रव्यों का सेवन दुराचार करने और अन्तःकरण की आवाज़ को दबाने के लिए किया जाता है। उनके सेवन से अन्तःकरण मर जाता है। शराब के नशे में आदमी ऐसे काम करता है जो उसके लिए निर्मद अवस्था में असम्भव होते हैं। उन्होंने लिखा है कि "प्रत्येक धर्म में आत्मोन्नति के लिए क्रमानुसार उन्नति आवश्यक मानी गई है। चीनी लोगों का विश्वास है कि स्वर्ग की सीढ़ी का एक पाया जमीन पर है और दूसरा स्वर्ग म है। अगर कोई स्वर्ग प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए पहिले सब से नीचे वाले डन्डे पर कदम रखना आवश्यक है। संसार के सभी महान् पुरुषों ने और धर्मों ने यह माना है कि शुद्ध सदाचारी जीवन प्राप्त करने के लिए बाकायदा क्रमानुसार सद्गुणों को अपने जीवन में धारण करना आवश्यक है। अपनी ऐशो-आराम की जिन्दगी को छोड़े बिना मनुष्य-मात्र का हित कैसे हो सकता है या धार्मिक जीवन कैसे व्यतीत किया जा सकता है? और जो मनुष्य धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहता है वह ऐशो-आराम और व्यसनों को छोड़े बिना भी कैसे रह सकता है?"

वह कहते थे कि "त्याग के बिना धार्मिक जीवन न हुआ है और न होगा। त्याग का अर्थ यह है कि मनुष्य इन्द्रियों की प्रवृति से स्वतन्त्र

होकर मन की वासनाओं को बुद्धि के अधीन कर दे। वासनायें दो प्रकार की हैं—मिश्रित और मूल। खेल तमाशा, बातचीत करने की वासना तो मिश्रत वासना है और अत्याहार, आलस्य और काम मूल वासना है। बहुत ज्यादा खाने से मनुष्य आलसी होता है और आलसी व्यक्ति काम-भाव पर विजय कैसे कर सकता है? इसलिए प्रत्येक धर्म के अनुसार त्याग की पहिली सीढ़ी को जिह्वा को वश में रखना या उपवास करना है। धार्मिक जीवन की पहिली शर्त त्याग है और त्यागपूर्ण जीवन की पहिली शर्त उपवास है।" वह अहिंसा के बड़े पक्षपाती थे। मांस खाना तो वह बहुत बुरा समझते थे। उनका कहना था कि "मांस खाने से पाशविक प्रवृत्तियां बढ़ती हैं। मांस खाकर सदाचारी रहना असंभव है।" इतना ही नहीं, वह इससे और आगे बढ़कर कहते थे—"फौज हत्या करने का एक साधन है। फौजोंको बनाना और रखना हत्या करने की तैयारी करना है। हिंसा और मारकाट से शान्ति और सुख नहीं मिल सकता। क्या लोहू से सना हुआ पथ लोहू से धोने से साफ हो जायगा?" वह संपूर्ण हृदय से मानव जाति के हितचिंतक थे। पृथ्वी के भार को हलका करने का उपाय भी उन्होंने सनातन काल से दिखाया हुआ ही बताया है:—'त्यक्तेन भुञ्जीथाः ; मागृधः कस्यस्विद्धनम्'। यह उपाय उन्होंने केवल किताब लिखकर नहीं बताया किन्तु सब कुछ त्याग कर, अकिञ्चन बन कर, यथा शक्ति अपरिग्रह का पालन करके और अन्त में महाभिनिष्क्रमण करके।

: ३ :

सत्यवीर सुकरात

सुकरात बाहर से जितने ही कुरुप दिखाई देते थे अन्दर से उतने ही सुन्दर थे। उनके नाटे कद, मोटे पेट, कुरूप चहरे एवं विचित्र वेश-भूषा को देखकर यह अनुमान ही नहीं होता था कि उसमें एक पवित्र आत्मा और उच्च व्यक्तित्व छिपा हुआ है। वह गुदड़ी के लाल थे। वह जबतक जीवित रहे बहुत कम लोग उन्हें समझ पाये; किंतु मृत्यु के बाद तो वह अपने ही देश के नहीं समस्त संसार के श्रद्धाभाजन बन गए। उन्होंने न बड़े-बड़े ग्रंथों की रचना की, न कोई महत्वपूर्ण कार्य किया; किंतु उनके सद्-विचार ही उनकी कीर्ति पताका आजतक फहरा रहे हैं।

जन्म और युवावस्था

सुकरात का जन्म ईसा के ४६६ वर्ष पूर्व ग्रीस के एथेन्स नगर में हुआ। यह वह समय था जब कि ग्रीस विद्या, कला-कौशल और व्यापार सभी दृष्टियों से चरम उन्नति पर था। सुकरात के पिता मूर्तिकार थे और माता नर्स थी। कुछ समय तक उन्होंने अपने पिता को उनके धन्धे में सहायता की किंतु तत्कालीन नियमों के अनुसार उन्हें फौज में भर्ती होना पड़ा। एक सैनिक के रूप में भी उन्होंने अपना कर्तव्य बड़ी अच्छी तरह पूरा किया। वह बड़ी बहादुरी और कुशलता से लड़े।

कठोर जीवन

सैनिक जीवन परित्याग कर देने के बाद उन्होंने अपना शेष जीवन बातचीत के द्वारा अपने विचारों की अभिव्यक्ति में व्यतीत किया। उनके विचार इतने महत्त्वपूर्ण थे कि अपने जीवन काल में ही वह दुनिया के सब से अधिक बुद्धिमान व्यक्ति समझे जाने लगे। वह प्रायः सुबह से ही घूमने निकल जाया करते थे। उनकी गरीबों जैसी वेश-भूषा

सारे एथेन्स में प्रसिद्ध थी। चाहे शीत हो चाहे ग्रीष्म; वह कोट नहीं पहनते थे और नंगे पैर रहते थे। उन्होंने शारीरिक कठिनाइयां उठाकर उनका अभ्यास कर लिया था। उनका वास्तविक संबन्ध तो मन और आत्मा से था। शारीरिक सुख उन्हें अच्छा भी कैसे लगता? उनके जैसा कठोर जीवन यदि किसी गुलाम को भी व्यतीत करना पड़ता तो वह उसे सहन न कर पाता और शीघ्र ही भाग जाता, किन्तु उन्होंने इन कठिनाइयों को कोई महत्त्व नहीं दिया।

वह सदैव एथेन्स में ही रहे। एथेन्स के बाहर बहुत कम गये। देश और राष्ट्र सम्बन्धी मामलों में उनकी रुचि बहुत ही कम थी। उनकी रुचि के विषय थे मनुष्य और स्त्रियां, जिनतक उन्हें अपना संदेश भेजना था। वह प्रायः गलियों में बाजारों में, और सब लोगों के एकत्र होने के स्थानों में जाया करते थे। बस वहीं उनका कार्य आरंभ हो जाता था। वह सभी वर्ग और जातियों के व्यक्तियों से बातचीत करते थे ऊंच और नीच, महान् व्यक्तित्व वाले और साधारण कोटि के सभी व्यक्ति उनकी बातें सुनते थे और उनके प्रश्नों का उत्तर देते थे। उनका यह स्वभावही होगया था कि वह प्रायः वादविवाद में अपने को बहुत बुद्धिमान मानकर बातचीत नहीं करते थे। बिलकुल साधारण ज्ञान वाले व्यक्ति की भांति वह बोलते थे और बोलचाल के शब्दों का ही प्रयोग करते थे। वह कहते थे कि सद्गुण-विहीन व्यक्ति किसी काम का नहीं है। यदि प्रयत्न किया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति श्रेष्ठ बन सकता है। किन्तु सद्गुण सम्पन्न हो कर श्रेष्ठ व्यक्ति बनने के लिए ज्ञान का होना परमावश्यक है। वह कहते थे एक ही पुण्य है और वह है ज्ञान; एक ही पाप है और वह है अज्ञान। अच्छे घर जन्म लेने से और धनवान होने से ही मनुष्य प्रतिष्ठा का पात्र नहीं बन जाता। उससे तो उलटी बुराई उत्पन्न होती है। ज्ञान ही वास्तविक प्रतिष्ठा का जनक है।

सत्य-प्रेम और निडरता

दूसरे दार्शनिकों की भांति उन्हें देशाटन का शौक नहीं था। वह प्रायः

घर पर ही रहा करते थे। स्वास्थ्य के लिए वह व्यायाम को बहुत आवश्यक मानते थे। वह स्वयं प्रतिदिन नियम-पूर्वक व्यायाम करते थे। उनकी इच्छा-शक्ति बड़ी प्रबल थी। जिस बात को वह सत्य समझते थे उसे कहने में कभी हिचकते नहीं थे। सत्य को वह सदैव निडर होकर कहते थे। जब वह कौन्सिल के सदस्य थे तो कौंसिल के सामने दस सेनापति विचारार्थ उपस्थित किये गए। उनसे कोई अपराध हो गया था। कौंसिल का बहुमत उन्हें प्राण दण्ड देने के पक्ष में था किन्तु उनका यह कार्य न्यायोचित नहीं था। अतएव सुकरात ने अपना मत उनके विरुद्ध दिया। वही अकेले व्यक्ति थे जिनका मत उन्हें मुक्त कर देने के पक्ष में था। इसी प्रकार ईसा के ४०४ वर्ष पूर्व जब कि एथेन्स साम्राज्य का अन्त हो गया तो वहां के तत्कालीन शासक ने सुकरात को आज्ञा दी कि वह कुछ व्यक्तियों को गिरफ्तार करें। ये लोग निरपराध थे और यह आज्ञा भी नीति के विरुद्ध थी। अतएव सुकरात ने, यह जानते हुए भी कि इन्कार करने का परिणाम मृत्यु-दण्ड हो सकता है, इन्कार कर दिया। और यदि प्रजा विद्रोह करके उस शासक को पदच्युत न करती तो सुकरात के प्राण खतरे में पड़ जाते। अन्तिम दिनों में भी जब कि उनके प्राण लिये जाने वाले थे और वह कैद में बन्द थे, तब उन्हें भाग जाने का अवसर प्राप्त होते हुए भी वह नहीं भागे। उन्होंने भागने से एकदम इन्कार कर दिया। जो मित्र उनके लिए रो रहे थे उनकी उन्होंने बड़ी भर्त्सना की और उन्हें एक अत्युत्तम उपदेश दिया। वह सत्य के एक बहुत बड़े उपासक थे और मृत्यु से बिलकुल नहीं डरते थे। वह सद्‌गुणों एवं आत्मा की अमरता में बहुत विश्वास रखते थे। धार्मिक मामलों में भी उनके स्वतन्त्र और मौलिक विचार थे। वह पुरानी लकीर के फकीर नहीं थे।

गृहस्थ-जीवन

उनके दो स्त्रियां थीं। पहली स्त्री का नाम माईटोथा और दूसरी का ज़ेथिप्पी। पहिली स्त्री से उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए थे और बाद में दूसरी

से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उनका जीवन बड़ा सादा था। वह कभी किसी से कुछ मांगते नहीं थे। वह कहा करते थे कि मुझे वही भोजन अधिक प्रिय लगता है जिसके साथ अचार-चटनी की आवश्यकता नहीं पड़ती और वही पेय अच्छा लगता है जिसके पी लेने से किसी दूसरे पेय की आवश्यकता नहीं रह जाती और मैं अपने को देवताओं के अधिक निकट इसलिए समझता हूं कि मेरी आवश्यकता बहुत ही कम है। एक व्यक्ति ने उनसे पूछा, "मुझे विवाह करना चाहिए या नहीं?" उन्होंने उत्तर दिया, "आप विवाह करें या न करें, दोनों अवस्थाओं में आपको पछताना पड़ेगा।"

उन्होंने एक बार कुछ धनी लोगों को भोजन के लिए निमंत्रण दिया। ज़ेथिप्पी ने कहा कि मुझे इतना घटिया भोजन परोसते हुए लज्जा आती है। इसपर सुकरात ने कहा कि "कोई परवाह नहीं, यदि वह समझदार होंगे तो उन्हें यह भोजन बुरा नहीं लगेगा और लगेगा तो वह सहन कर लेंगे। किन्तु यदि वह मूर्ख हैं तो हमें लज्जा किस बात की?" वह कहा करते थे कि दूसरे लोग तो खाने के लिए जीते हैं किन्तु मैं जीने के लिए खाता हूं।

कहा जाता है कि ज़ेथिप्पी बड़ी कर्कशा थी। वह सदा उनसे लड़ती-झगड़ती रहती थी, किन्तु सुकरात बड़े शांत थे। एक बार वह बहुत बकी और अन्त में उसने मैला पानी लाकर उन पर उंडेल दिया। सुकरात इतना बोले, "क्या मैंने नहीं कहा था कि ज़ेथिप्पी इतना गरजने के बाद बिना बरसे न रहेगी।" जब अलसेबिएडस ने कहा कि जेथिप्पी की भर्त्सना असह्य है तो वह बोले—"नहीं मुझे इसे सुनने की आदत हो गई है। आप भी तो बतखों की धें-धें सुनते है या नहीं?" "परन्तु बतखें तो मुझे अण्डे और चूज़े देती हैं।" सुकरात ने कहा, "ज़ेथिप्पी मेरे बच्चों की मां है।"

कहा जाता है कि ज़ेथिप्पी ने बाजार में सुकरात का कोट फाड़ डाला। मित्रों ने सलाह दी कि वह भी उसे पीटें और इस प्रकार उसे इस बुरे कार्य,

का दण्ड दें। सुकरात ने बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। वह कहने लगे—"जिस प्रकार सईस लोग दुष्ट घोड़ों के साथ रहकर उन्हें ठीक करने का प्रयत्न करते हैं उसी प्रकार मैं भी एक चिड़चिड़े स्वभाव वाली स्त्री के साथ रहता हूं। परन्तु जिस प्रकार यदि सवार उनपर काबू कर लेते हैं तो दूसरों को आसानी से काबू में रख सकते हैं; उसी प्रकार ज़ेथिप्पी की संगति से मैं शेष जगत का सामना करना सीखता हूं।"

किन्हीं लोगों का मत है कि उनकी स्त्री के कर्कशा होने के जो उदाहरण ऊपर दिये हैं उनमें अतिशयोक्ति अधिक है। यदि ये बातें सत्य भी हों तो भी उसे कर्कशा कहना उचित नहीं है। एक गरीब दार्शनिक के साथ विवाह करने वाली स्त्री के स्वभाव में यदि इस प्रकार कुछ कर्कशता आ जाय तो वह स्वाभाविक ही है। क्योंकि वह दार्शनिक भी ऐसा था कि उसका अधिकांश समय लोगों से बात-चीत में ही व्यतीत हो जाता था और घर के काम-काज देखने और सुव्यवस्था करने के लिए न समय था न रुचि।

एक महान व्यक्तित्व

सुकरात की उक्तियों को सुनकर लोग प्रायः उनपर झुंझला उठते हैं। कभी-कभी तो कोई उनके बाल तक उखाड़ डालते थे। उनकी माज़क उड़ाते और अपमान भी करते किन्तु सुकरात समुद्र की भांति गंभीर रहते थे। बड़ी शान्ति के साथ वह सब कुछ सहन कर लेते थे। एक समय लोगों ने उन्हें लातें भी मारीं परन्तु उन्हें बिल्कुल क्रोध नहीं आया। एक व्यक्ति उनकी इस सहनशीलता को देखकर चकित रह गया। उसने कहा—"आपने इसे शान्ति से क्यों सहन कर लिया?" सुकरात ने कहा—"यदि गधे हमें लात मारें तो क्या हमें भी उन्हें लात मारनी चाहिए?"

वह बड़े ही स्वतंत्रता-प्रिय और सच्चरित्र थे। उनकी चरित्र की पवित्रता बड़ी प्रसिद्ध है। एलसी बिएडस नामक एक धनी व्यक्ति ने उन्हें मकान बनाने के लिए बहुत सी जगह देना चाही। उन्होंने जगह

लेने से इन्कार कर दिया और कहा—"जब मुझे एक जोड़ा जूते की आवश्यकता हो और मुझे आप पूरी खाल देना चाहें तो क्या उसे लेना मेरे लिए हास्यास्पद नहीं है ?"

वह युवकों को दर्पण देखने के लिए कहा करते थे। वह कहते थे कि सुन्दर युवकों को दर्पण इसलिए देखना चाहिए कि वे अपने चरित्र को भी सुंदर बनाने का प्रयत्न करें और कुरूप युवकों को दर्पण इसलिए देखना चाहिए कि वे अपनी कुरूपता को अच्छी शिक्षा और सच्चरित्रता के द्वारा छिपा सकें।"

एस चीनस नाम के एक व्यक्ति ने सुकरात से कहा—"मैं निर्धन हूं। मेरे पास आपको देने के लिए अपने आपके सिवा और कुछ नहीं है" इसपर सुकरात बोले—"इससे बड़ा दान और क्या हो सकता है ! क्या यह सबसे बड़ा दान नहीं है ?" जब उन्हें मृत्यु-दण्ड दे दिया गया तो एक व्यक्ति ने उनसे कहा—"आपको दोषी ठहराकर मृत्युदण्ड दिया गया है।" सुकरात ने अविचिलित रहकर सरलता से कहा—"क्या उन लोगों के लिए भी ईश्वर की यह आज्ञा नहीं है ?"

मृत्यु-दण्ड और अन्तिम समय

ईसा के ३९९ वर्ष पूर्व उनकी उम्र ७० वर्ष की हो चुकी थी। इस समय उनके दुश्मनों को मौका मिल ही गया। उनके ऊपर दो आरोप लगाये गए और मामला चलाया गया। पहला आरोप यह था कि उन्होंने प्रजातन्त्र के स्वामियों की उपेक्षा की और उनमें अविश्वास किया और दूसरा यह कि उन्होंने नगर के युवकों को बिगाड़ा। लाइसिअस ने, जो कि एथेन्स का उस समय सब से बड़ा वक्ता था, उनके लिए एक जवाब-दावा लिखा और उसे सुकरात को दिया। सुकरात ने उसे पढ़ा और नम्रता पूर्वक धन्यवाद देकर कहा—"मैं इसका उपयोग नहीं कर सकता। पेशेवर लोगों की भांति उत्तर देकर मुझे अपना बचाव नहीं करना है। सुन्दर-सुन्दर जूते और वस्त्र दूसरे लोगों के लिए उपयुक्त हो सकते हैं, किन्तु मेरे लिए नहीं। एक दार्शनिक को अपने उच्च विचार एवं आत्म-

विश्वास पर दृढ़ रहना चाहिए।" उन्होंने उस जवाबदावे का उपयोग नहीं किया, केवल अपने सिद्धान्त को ही प्रकट किया। उनके पास जो कुछ भी था, वह सब उन्होंने एथेन्स की सेवा में खर्च किया। अपने एथेन्स-निवासियों को सुखी बनाना ही उनका उद्देश्य था। और इसी-कर्तव्य को उन्होंने ईश्वर की आज्ञा से पूरा करने का प्रयत्न किया। इसी लिए जब वह न्यायाधीश के सामने लाये गए तो उन्होंने कहा—"मैंने ईश्वर की आज्ञा से अपने कर्तव्य का पालन किया है। ईश्वर के अधिकारों को मैं तुम्हारे अधिकारों से बहुत बड़ा मानता हूं।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके इन शब्दों ने न्यायाधीशों को चिढ़ा दिया किन्तु उन्होंने इसकी कोई परवाह न की। उन्होंने कहा—"अगर आप मेरे सामने यह प्रस्ताव रखते हैं कि यदि मैं अपनी सत्य की शोध छोड़ दूं तो मुझे मुक्त कर दिया जायगा तो मैं आपको इसके लिए धन्यवाद दूंगा। किन्तु इस कार्य को कभी भी नहीं छोड़ूंगा। मेरा यह विश्वास है कि यह कार्य मुझे ईश्वर ने दिया। आपने नहीं, अतएव जबतक मेरे शरीर में थोड़ी सी भी शक्ति रहेगी और एक भी सांस शेष रहेगी तबतक मैं अपना यह कार्य करता रहूंगा। जब कभी भी मुझे कोई व्यक्ति मिलेगा तो मैं उससे पूछूंगा "क्या तुम्हें अपनी वैभव-प्रियता और मान-सम्मान पाने की लालसा पर लज्जा नहीं आती, जब कि तुम्हें सत्य और ज्ञान प्राप्त करके अपनी आत्मा को पवित्र बनाने की बिलकुल चिंता नहीं है।" मैं नहीं जानता मृत्यु क्या है, वह एक अच्छी चीज़ भी हो सकती है। मैं उससे नहीं डरता। जो बुरा है उसकी अपेक्षा जो अच्छा हो सकता है उसे ही मैं पसन्द करूंगा।" सुकरात के इस वक्तव्य पर, वहां निंदा करने वाले बहुत कम थे किंतु, न्याया-धीशों ने उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया। तत्कालीन नियमों के अनुसार अब यह कार्य सुकरात का था कि वह अपने लिए उसके बजाय कोई अन्य दण्ड सुझायें जैसे निर्वासन आदि। सुकरात ने अपने लिए यह सुझाव पेश किया कि उसे उसी रूप में माना जाय जैसा कि वह है अर्थात् 'जन-हित-चिन्तक'। और इस मृत्यु-दण्ड पर उसी प्रकार भोजों का आयोजन हो

और खुशी मनाई जाय जिस प्रकार कि ओलम्पिक के विजयी के लिए मनाई जाती है। अन्त में यह निश्चित हुआ कि यदि वह ३० मिना (तत्कालीन सिक्का) अर्थ-दण्ड देना स्वीकार करलें तो मृत्यु से बच सकते हैं। उनके मित्रों ने यह स्वीकार करने के लिए उनसे बहुत प्रार्थना की किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। सुकरात के इस निर्णय पर न्यायालय को बहुत बुरा लगा। उसने मृत्यु-दण्ड की आज्ञा देदी। सुकरात ने इसे बड़ी शान्ति से स्वीकार किया और कहा—"अब मेरा विदा होकर मरने का समय पास आगया है, किन्तु हममें से कौन सच्चे रास्ते पर है, इसे ईश्वर के अतिरिक्त और कौन जान सकता है?"

किसी धार्मिक उत्सव होने के कारण तीन सप्ताह के लिए यह कार्य स्थगित रहा। इस बीच वह भारी हथकड़ी बेड़ी पहनाकर जेल में रखे गए। किन्तु अपने मित्रों का वह उसी प्रकार स्वागत करते और उसी प्रसन्नता से उनसे बात चीत करते थे।

जिस दिन उन्हें विष का प्याला पीना था वह दिन उन्होंने मित्रों से बातें करते-करते बिता दिया, उनकी पत्नी अपने बच्चे को लिये रोती हुई आई। उन्होंने अपने मित्र क्रीटो से कहा कि इसे घर भिजवा दे। शोक-विह्वल जेलर विष का प्याला लाया और उन्होंने शान्ति के साथ उसे पी लिया। जब मित्रों ने देखा कि विष खत्म होगया तो वे अपने शोक को न रोक सके। उस समय अकेले सुकरात ही शांत थे। वह बोले-"इस प्रकार रोने और चिल्लाने की क्या आवश्यकता है? मनुष्य को शांति से मरना चाहिए अतएव शांत रहिये और धैर्य रखिये। जबतक उनकी टांगों में शक्ति रही वह चलते रहे और फिर लेट गए। इस प्रकार एक बहुत बड़ा दार्शनिक इस संसार से बिदा होगया।

सुकरात का जीवन आदर्शों का जीता-जागता नमूना था। उनके विचार युगान्तर-कारी थे। सिसेरो ने लिखा है—"वह दर्शन को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाये थे।"

: ४ :

कन्फ्यूशियस

जीवन का कलाकार

आचार्य कन्फ्यूशियस (कुंग-फू-त्ज़े) का जन्म हुए २४०० वर्ष से भी अधिक हो गए किन्तु उनकी कीर्ति-पताका देश-काल के बन्धनों को तोड़ कर आज भी सर्वत्र स्वच्छन्दता से फहरा रही है। उसका जन्म उस युग में हुआ जिसे हम धार्मिकता का युग कह सकते हैं क्योंकि उस काल में धार्मिक भावनाओं की ही प्रधानता थी और केवल धार्मिक व्यक्तियों को ही आदर सम्मान मिला था। किन्तु कन्फ्यूशियस उन आचार्यों में से हैं जिनमें "धार्मिकता" बहुत कम थी। एक लेखक ने तो यहाँतक लिखा है कि उनमें धार्मिकता थी ही नहीं, क्योंकि उन्होंने कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी। इसका यह अर्थ नहीं कि वह नास्तिक थे। वह उन व्यक्तियों में से थे जिन्हें धार्मिक मामलों में रुचि नहीं थी। जन्म के पहले मनुष्य कहाँ था और मृत्यु के बाद कहाँ जायगा, इन प्रश्नों और समस्याओं में वह कभी नहीं उलझे। वह तो जीवन के कलाकार थे। जीवन कैसा होना चाहिये यही इन्होंने बताया। प्रायः हम बोलते बहुत हैं और करते कम। हमारे शब्दों में और कर्मों में साम्य नहीं होता। कन्फ्यूशियस का कहना था कि हम जो बोलें वही हमें करना चाहिए। अपने जीवन में इन्होंने इसे पूरा करके दिखा दिया। वह आदर्शवादी थे और कार्य-कुशल भी। अपने आदर्शों को वह केवल कह कर ही प्रकट नहीं करते थे बल्कि व्यावहारिक जीवन में इनका पालन भी करके दिखाते थे। हमारे समाज में आज बड़ी-बड़ी बातें करने वाले बहुत हैं किन्तु जब कुछ करने का समय आता है तो वे अपने आदर्श से गिर जाते हैं। इस दृष्टि से आचार्य कन्फ्यूशियस का चरित्र इतने वर्षों के

वाद आज भी हमारे लिए नया है; आज भी हम उसमें बहुत कुछ सीख सकते हैं।

जन्म और बाल्यकाल

ईसा के १२२५ वर्ष पूर्व तक चांग वंश ने चीन में एक-छत्र राज्य किया। चांग-वंश का शासन धर्म-प्रधान था। परन्तु इस वंश के शासन का अन्त होते ही चीन की अखण्डता नष्ट हो गई और ईसा से पूर्व की छटी शताब्दी तक वह कई हजार छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित होगया। इसी प्रसिद्ध वंश में ईसा के ५५० वर्ष पूर्व कन्फ्यूशियस का जन्म हुआ। उसका पिता एक जिले का किलेदार था। वह बड़ा ही सम्मान-नीय था। उसके बहुत-सी कन्याएं थीं किन्तु पुत्र नहीं था। अतः पुत्र की अभिलाषा से उसने ७० वर्ष की अवस्था में दूसरा विवाह किया। इस दूसरे विवाह के द्वारा उसकी इच्छा पूरी हुई और तत्कालीन लू राज्य में कन्फ्यूशियस का जन्म हुआ। प्राचीन काल में महापुरुषों के जीवन के सम्बन्ध में जिस प्रकार अनेकों चमत्कार पूर्ण घटनाएं वर्णन की जाती हैं, उसी प्रकार कन्फ्यूशियस के सम्बन्ध में भी कई कहानियाँ प्रचलित हैं। इनसे यह प्रतीत होता है कि बाल्यकाल में ही कन्फ्यूशियस की असाधारण योग्यता के चिन्ह प्रकट होने लगे थे।

कन्फ्यूशियस की अवस्था तीन वर्ष की भी नहीं होने पाई थी कि इसके पिता का देहान्त हो गया। बाल्य-काल में ही पिता की मृत्यु हो जाने से कन्फ्यूशियस को बड़ी कठिनाइयां का सामना करना पड़ा। किन्तु इन विषमपरिस्थितियों में जीविका के लिए कार्य करते हुए भी वह विद्याध्ययन करते रहे। साधारण बालकों की भाँति केवल पढ़ने-लिखने की ओर ही उन्होंने ध्यान नहीं दिया बल्कि अपनी पढ़ी हुई बातों को जीवन में उतारने का प्रयत्न भी करते रहे। कहते हैं कि केवल १४ वर्ष की आयु में ही उन्होंने महात्मा के पद पर पहुंचने का निश्चय कर लिया था।

विवाह

उन्नीस वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हुआ और थोड़े ही समय में उनकी पत्नी ने दो कन्याओं तथा एक पुत्र को जन्म दिया। गृहस्थी का भार आजाने पर भी उनका विद्या-प्रेम उसी प्रकार बना रहा। विवाह के कुछ समय बाद ही उन्होंने सरकारी नौकरी करली। किन्तु २२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने इसे छोड़ दिया और एक पाठशाला की स्थापना की, जिसमें वह शासन के सिद्धान्त और सदाचार की शिक्षा देते थे।

अध्यापन

पाठशाला अच्छी तरह चल रही थी। वहां धनी और निर्धन विद्यार्थियों में कोई अन्तर नहीं था। विद्यार्थियों की एकमात्र कसौटी तो उनकी योग्यता और उत्साह था। कुछ धनी विद्यार्थियों से ही निर्वाह के योग्य धन ले लिया जाता था। पाठशाला चारों ओर प्रसिद्ध होने लगी और साथ-ही-साथ एक अच्छे आचार्य और शासक के रूप में कन्फ्यूशियस की कीर्ति भी चारों ओर फैल गई। वह एक बहुत बड़े सुधारक थे। रूढ़ि और परम्परा गत बुराइयों का विरोध करने में वह कभी नहीं हिचकते थे। रूढ़िवादी लोग पुरानी परम्पराओं को नहीं छोड़ना चाहते, किन्तु कन्फ्यूशियस का कहना था कि जो शासक इन बुराइयों को हटा कर सुधार करने से नहीं डरता, वही सफल कहा जा सकता है। दर्शनशास्त्र और इतिहास का उन्होंने बड़ा गहरा अध्ययन किया था और प्राचीन साहित्य के भी वह बहुत बड़े ज्ञाता थे। अपने इस गहरे अध्ययन के आधार पर इन्होंने राजनीति शास्त्र और नैतिक-व्यवहारशास्त्र के सिद्धान्तों का बड़ा ही विधिपूर्वक निरूपण किया और अपने विद्यार्थियों को इसकी शिक्षा दी।

राजधानी को प्रस्थान

ईसा के ५१७ वर्ष पूर्व लू राज्य के दो उच्च-पदाधिकारी युवक उनके शिष्य हो गए। इनके साथ वह लू राज्य की राजधानी चले आये।

यहांके पुस्तकालय उन्होंने संगीत-कला का अध्ययन और इतिहास का अन्वेषण कार्य किया। वह संगीत-कला पर मुग्ध थे और उसमें इतने तन्मय हो जाते थे कि भोजन करने तक की सुध नहीं रहती थी। राजधानी की इसी यात्रा में वह अपने समकालीन एक दार्शनिक प्रतिद्वन्द्वी लाओ-त्से से मिले। यह व्यक्ति चारित्रिक दृष्टि से कन्फ्यूशियस से बिलकुल विपरीत था किन्तु यश में उसका प्रतिद्वन्द्वी था। इसने चीन में एक धर्म की स्थापना की थी, जो कि वहाँ के तीन प्रधान धर्मों में से एक है। इन व्यक्तियों के दृष्टिकोण और विचारों में काफी असमानता थी। वह स्वप्नदर्शी आदर्शवादी, रहस्यवादी, और आस्तिक था। उसका विश्वास था किं यदि मनुष्य सांसारिक इच्छाओं को छोड़ दे तो उसे सत्य की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु इसके विपरीत कन्फ्यूशियस व्यावहारिकता के प्रतिपादक थे। सगुणोपासना में उनका विश्वास नहीं था। वह तो निराकार के भक्त थे। आत्मोन्नति और सदगुणों की प्राप्ति के लिए वह इसी निराकार और निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते थे। कहते हैं लाओ--त्से की शिक्षाओं का कन्फ्यूशियस पर भी कुछ प्रभाव पड़ा।

निर्वासित राजा के साथ

राजधानी में उनका काम बड़ी अच्छी तरह चल रहा था। परन्तु अकस्मात वहां एक ऐसी क्रान्ति हुई जिसके परिणाम-स्वरूप लू राज्य के अधिपति को वहाँ से भागना पड़ा। कन्फ्यूशियस भी इसके साथ चल दिये। इस यात्रा में उन्हें एक पहाड़ के नीचे एक स्त्री दिखाई दी जो एक कब्र के पास शोक-सन्तप्त पड़ी थी। कन्फ्यूशियस ने अपने शिष्य को उसके दुःख का कारण जानने के लिए भेजा। स्त्री ने सिसकते हुए अपनी करुण कथा उसे कह सुनाई। उसके ससुर को इसी स्थान पर एक चीते ने मार डाला था और फिर उसके पति और पुत्र का भी यही हाल हुआ। शिष्य ने उससे पूछा कि उसने ऐसे भयावह स्थान को छोड़ क्यों नहीं दिया, तो उसने उत्तर दिया कि वहां का शासक कठोर नहीं था, अतः वह उस स्थान को नहीं छोड़ना चाहती

थी। जब शिष्य ने आकर सारा हाल कन्फ्यूशियस को सुनाया तो उन्होंने कहा—"मेरे शिष्यो! इस बात को याद रखो कि कठोर शासन चीते से भी अधिक भयंकर होता है।"

शिष्य-मंडली

इसके बाद निर्वासित राजा का साथ छोड़कर कुछ समय तक वह स्वतन्त्र रूप से इधर-उधर भ्रमण-यात्रा करते रहे। वह जहां कहीं जाते सद्‌गुण, सदाचार तथा सुशासन के नियमों का उपदेश करते थे। उनकी शिष्य-मंडली उनके साथ ही रहती थी और उसकी संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती थी। ये शिष्य उनके बड़े भक्त थे। जो कुछ उनके मुंह से निकलता उसे वे लोग लिख लेते थे और उनकी प्रत्येक बात का अध्ययन करते थे। इसके फलस्वरूप कन्फ्यूशियस के उपदेशों का संग्रह आज हमें ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध है।

व्यक्तित्व

कन्फ्यूशस का क़द ऊंचा था। वह सादा भोजन पसन्द करते थे और खाते समय मौन रहते थे। भोजन के समय गाना सुनना उन्हें बड़ा प्रिय था। वह मित-भाषी और व्यावहारिक सभ्यता में दक्ष थे। उनका एक-एक शब्द मूल्यवान था। उनमें ममत्व अधिक नहीं था। अतः उनके व्यवहार में कुछ रूखापन था। उनका स्वभाव एकान्त-प्रिय तथा गंभीर था। नियमों के पालन में वह बड़े कट्टर थे। उनके असाधारण व्यक्तित्व में लोगों का आदर प्राप्त कर लेने और अपना भक्त बना लेने का एक अपूर्व जादू-सा था। किन्तु कोई भी उनसे घनिष्ठता स्थापित नहीं कर सकता था। और न कोई उनका मित्र ही बन सकता था। उनका बौद्धिक स्तर इतना ऊंचा और चरित्र की पवित्रता इतनी अधिक थी कि साधारण मनुष्य-समाज की पहुंच के बाहर की बात थी।

सफल शासक

वह कोरे ज्ञानी ही नहीं थे। कार्य-कुशलता उनका एक बहुत बड़ा गुण था। जब वास्तव में शासन का भार उनके कंधों पर पड़ा तो

उसमें भी वह बहुत सफल हुए। लगभग ४२ वर्ष की आयु में वह पास के ही एक राज्य के चुंगटू नामक नगर के गवर्नर बनाये गए। इस पद पर उन्होंने इतनी योग्यता से काम किया कि सब लोग चकित रह गए। बड़ी शीघ्रता से वह राज्य के सर्वोच्च पद पर पहुंच गए। जल्दी-जल्दी बदलने और बिगड़ने वाले शासन का तो मानो अन्त ही हो गया और दुराचार तथा बेईमानी दूर भाग गए। लोगों में राज-भक्ति और शासन में विश्वास निरन्तर बढ़ता गया और स्त्रियों में पवित्रता तथा पतिव्रत धर्म। वह देवता-तुल्य माने जाने लगे और उनकी कीर्ति गीतों में गाई जाने लगी। यह सब उनकी तपस्या और उनके शिष्यों के कठिन परिश्रम का परिणाम था। उन्होंने गरीबी मिटाने के लिए बहुत प्रयत्न किया और कम-से-कम गरीबों को भूखों मरने के कष्ट से बचाने में तो वह अवश्य सफल हुए! उन्होंने युवा और वृद्ध लोगों के लिए अलग-अलग प्रकार के भोजन की व्यवस्था की। इसी प्रकार उनके लिए अलग-अलग कार्यों की भी व्यवस्था करना उनका ही काम था। वस्तुओं की कीमत निश्चित कर दी गई और भूमि-कर के रूप में मिले हुए द्रव्य का उपयोग व्यापार की उन्नति के लिए किया गया। यातायात के साधन बढ़ाये गए तथा सड़कों और पुलों की मरम्मत भी करा दी गई। उन्होंने धनी लोगों की शक्ति इतनी नहीं बढ़ने दी कि वे साधारण जनता का शोषण कर सकें और उन्हें सता सकें। उनके शासनकाल में सबके साथ समानता का व्यवहार होता था। इस दिशा में उनकी सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जहां एक ओर उन्होंने साधारण जनता को प्रसन्न किया वहां उनकी नीति से धनिकवर्ग भी असन्तुष्ट नहीं हुआ। सुधारों में बाधा डालने वालों के साथ बड़ा कड़ा व्यवहार होता था। इसी कारण उनके शासन में सर्वत्र शान्ति रही।

राज्य छोड़कर शिष्यों के साथ भ्रमण

कन्फ्यूशियस की इस सफल नीति-कुशलता से पास के राज्य का राजा बहुत घबराया। अपने पड़ोस में एक आदर्श राज्य देखकर उसे यह भय हुआ कि कहीं उसके राज्य के लोग भी वैसे ही शासन-सुधार की मांग कर

विद्रोह न कर बैठें। उसे यह भी भय हुआ कि यह निकटवर्ती शक्तिशाली राज्य किसी समय आक्रमण भी कर सकता है। अतः उसने एक कारगर युक्ति ढूंढ निकाली। उसने ८० सुन्दर नवयुवतियां चुनीं जो संगीत और नृत्य में कुशल थीं। और इन युवतियों को कुछ बढ़िया घोड़ों के साथ अपने पड़ौसी राजा के पास भेंट स्वरूप भेजा। राजा और उसके मन्त्रिगण इस प्रलोभन में पड़ गए। शासन में ऐसा ढीलापन आ गया जो कन्फ्यूशियस के रोके न रुक सका। अतः इच्छा न होते हुए भी उनको वहांसे चले जाने का विचार करना पड़ा और एक दिन वह अपने शिष्यों के साथ निकल पड़े। अपनी सफलता और लोकप्रियता के कारण उन्हें आशा थी कि उन्हें लोग वापस बुलाने के लिए आवेंगे। किन्तु जब बहुत दूर निकल जाने पर भी कोई उन्हें लौटा ले जाने को नहीं आया तो उन्हें कुछ निराशा हुई। इस प्रकार तीन वर्ष शासन करने के बाद उन्हें तेरह वर्ष इधर-उधर भटकना पड़ा। इन दिनों वह एक राज्य से दूसरे राज्य में फिरते रहे। वह चाहते थे कि कोई सुधार-प्रिय राजा उन्हें शासन संभालने के लिए निमन्त्रण दे; किन्तु किसी ने उन्हें नहीं बुलाया। उनके जीवन के ये वर्ष बड़ी निराशा और असफलता में बीते। बहुत से राज्यों में उनका शानदार स्वागत भी हुआ और उनसे यह भी प्रार्थना की गई कि वह अपने निर्वाह के लिए कुछ स्थायीवृत्ति स्वीकार कर लें; परन्तु उन्होंने यही उत्तर दिया कि–"श्रेष्ठ पुरुष सदैव अपने श्रम से उपार्जित द्रव्य ही अपने काम में लेते हैं। इस अवस्था में रूखा-सूखा खाकर पानी पी लेने और हाथ का तकिया बना कर सोने में ही मुझे आनन्द है किन्तु किसी के आभार में रह कर अथवा अधर्म से रुपया लेकर उसका उपयोग करना मैं नहीं चाहता।" उनपर बहुत-सी विपत्तियां आई परन्तु वह तनिक भी विचलित नहीं हुए। एक दिन खाने के लिए कुछ नहीं था। इससे उनके शिष्य को बड़ा दुःख हुआ और उसने अपने आचार्य से प्रश्न किया, "क्या श्रेष्ठ पुरुषों को इसी प्रकार कष्ट सहन करना चाहिए ?" उन्होंने बड़ी ही शांति से उत्तर दिया—'श्रेष्ठ पुरुषों के लिए इससे भी कठिन समय आ सकता

है। इन कठिनाइयों को उठा कर भी वह श्रेष्ठ है। उसकी श्रेष्ठता को कठिनाइयां मिटा नहीं सकतीं। ये कठिनाइयां ही उसकी श्रेष्ठता की कसौटी हैं। साधारण व्यक्ति इस प्रकार की परिस्थितियों में ही अपना धैर्य खो देता है।"

दुबारा शासन-भार अस्वीकार

अन्त में जिसके लिए वह पहले अत्यन्त उत्सुक रहते थे, वह अवसर आया। उन्हें उसी राज्य का शासन-भार सम्हालने का फिर निमन्त्रण मिला। पहला शासक मर चुका था और अब उसका पुत्र गद्दीनशीन था। एक दिन उसने अपने एक सेनापति के मुंह से यह सुना कि उसमें जो कुछ योग्यता है उसका सारा श्रेय आचार्य कन्फ्यूशियस को है। यह सुन कर राजा बहुत प्रभावित हुआ और उसने कन्फ्यूशियस को बुलाने के लिए आदमी भेजे। किन्तु अब उनकी अवस्था लगभग ७० वर्ष की हो चुकी थी। इतने दिनों के कष्टमय जीवन ने उन्हें और भी दुर्बल बना दिया था। वह लौटे तो, किन्तु लौट कर उन्होंने शासन-सूत्र अपने हाथ में नहीं लिया। अब उन्होंने शान्ति के साथ काल-यापन करने का निश्चय कर लिया।

अन्त-काल

उनके जीवनकाल के अब केवल पाच वर्ष ही शेष थे। इन दिनों वह अपने शिष्यों को शिक्षा देते रहे और बहुत कुछ समय उन्होंने अपने "वसन्त और पतझड़" नामक ग्रन्थ की रचना की। यह उनका मौलिक ग्रन्थ है और काफी प्रसिद्ध है।

ईसा के ४७८ वर्ष पूर्व, ७३ वर्ष की आयु में वह परलोक सिधारे। अपने अन्तिम समय में उन्होंने बड़े दुःख के साथ कहा था, "एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो पूरी तरह मुझे पहचान सका हो। और कोई ऐसा राजा भी नहीं है जो मुझे अपना पथ-दर्शक मान कर अच्छे शासन के राज-मार्ग पर चलने के लिए उत्सुक हो।" यद्यपि किसी शासक ने उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक नहीं बनाया तथापि उनके शिष्यों ने उनके प्रति जो भक्ति दिखाई वह राजाश्रय से बहुत बड़ी और महत्त्वपूर्ण है। मृत्यु के

बाद तीन वर्षों तक उनके शिष्य उनकी समाधि के पास शोक मनाते रहे। उनकी कीर्ति इन तीन वर्षों में दूर-दूर तक फैल गई। आज तो चीन ही नहीं संसार के सभी देशों के लोग उनके उपदेशों से लाभ उठा कर अपने जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न करते हैं।

अमर कीर्त्ति

उनकी मृत्यु के दो हजार वर्ष बाद एक राजा ने कन्फ्यूशियस की कीर्ति को नष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया। उसने उनके ग्रन्थ जलवा डाले। उनके सिद्धान्तों का अध्ययन करना बन्द करवा दिया और इनके आदर्शों पर चलने वालों को कष्ट भी दिया किन्तु वह सफल नहीं हुआ। कन्फ्यूशियस का नाम और उनके सिद्धान्त एक अमर वस्तु बन चुके थे। हुआ यह कि बाद के राजाओं ने कन्फ्यूशियस के सिद्धान्तों को अपनाया और उसी आदर्श पर अपने राज्यों की व्यवस्था की। आज चीन में उनपर श्रद्धा रखने वालों की एक बहुत बड़ी संख्या है। उनके आदर्शों पर चल कर करोड़ों व्यक्ति अपने जीवन को ऊंचा उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

कन्फ्यूशियस ने किसी धर्म या वाद को चलाने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि उन्होंने समय-समय पर इसका विरोध ही किया है। उनका कहना था कि उन्होंने कोई नई बात नहीं दी उन्होंने तो केवल उन्हीं पुरानी बातों को अच्छे रूप में सामने रख दिया है।

: ५ :

गुरुदेव

[रवीन्द्रनाथ टैगोर]

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशः काये जरा-मरणजंभयम् ॥

उन सत्कर्म करने वाले रससिद्ध कवीश्वरों की जय हो, जिनके यश रूपी शरीर को चौथेपन या मृत्यु का भय नहीं है । —भर्तृहरि

पुण्यदर्शन

प्रयाग का एक सभा-भवन। १९१३ या १४ में आपको चलना होगा। खचाखच भीड़। नंगी खोपड़ियों का तांता। सबके चेहरों पर कृतज्ञता और आत्म-सन्मान का गौरव। एक गैलरी में मैंने अपने को खोया हुआ पाया। मैं मैट्रिक में पढ़ता था। उत्सुकता झुंझलाने लगी। प्रतीक्षा थकने लगी। एकाएक नीचेवालों की निगाह दरवाजे की ओर गई। कोसे की धोती, कोसे का लम्बा कुर्ता, ऊपर कोसे की ही चादर पड़ी हुई—एक शान्त, भव्य, प्रसन्न मूर्ति आती दिखाई दी। विशाल आंखें, उन्नत ललाट, शानदार दाढ़ी, खुला सिर। बीसवीं सदी में यह उपनिषद-काल का ऋषि ही तो भूलकर नहीं आ गया। वाल्मीकि की प्रतिमूर्ति ही तो नहीं है? सबने इन्हें आदरपूर्वक प्रणाम किया। वह मृदुल गम्भीर स्वर में बोले। मैं न सुन सका, न समझ सका; पर उस सारे दृश्य को देखकर गद्गद् हो गया। जिन्होंने भारतवर्ष का नाम बढ़ाया, दुनिया ने जिसके कवित्व की दाद दी, भारतीय संस्कृति जिसके रोम-रोम से बोल रही थी, ऐसे महान् व्यक्ति के दर्शन से मैंने अपने को कृतार्थ माना। 'गुरुदेव' के ये प्रथम दर्शन थे। उस समय शायद वह पहिले भारतवासी थे, जिन्होंने संसारवासियों के मन में अपने लिए मान का स्थान प्राप्त किया।

मुझे रोम्या रोलां का वह वाक्य याद आता है कि गांधी और रवीन्द्रनाथ एक हिमालय से निकल कर पूर्व और पश्चिम में बहने वाली गंगा और सिंधु के सदृश दो धारायें है। रवीन्द्र और गांधी संसार को आर्य संस्कृति की दो महान् देन हैं! एक में उसके हृदय की सुकुमारता और दूसरे में उसकी आत्मा की तेजस्विता चमक रही है। दोनों इतने महान् हैं कि हमारी स्थिति कबीर की तरह हो जाती है—"गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पांय।"

गुरुदेव के दर्शन से पवित्र होकर, आइए अब हम उनके चरित्र का अवलोकन करें। कविवर वैसे बनर्जी-कुल के हैं, किन्तु समाज में माननीय होने के कारण उनका वंश ठाकुर कहलाता है। टैगोर इसीका अंग्रेजी मुलम्मा चढ़ा हुआ रूप है। यह टैगोर-कुल केवल बड़े जमींदार के ही नहीं, किन्तु कला और साहित्य के उच्च मर्मज्ञों के रूप में भी बहुत दिनों से प्रसिद्ध रहता आ रहा है। विगत शतब्दि में जो सांस्कृतिक एवं सामाजिक सुधार हुए हैं उनसे ठाकुर-कुल का गहरा सम्बन्ध रहा है। उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और पिता द्वारकानाथ ठाकुर ब्रह्म-समाज के बहुत आगे बढ़े हुए सदस्यों में से थे। वह मूर्तिपूजा और अन्धविश्वासों के कट्टर विरोधी थे। यह उनके ही सतत परिश्रम का फल था कि ब्रह्म-समाज वर्तमान भारतीय जीवन पर अनेक प्रकार के गहरे प्रभाव डाल सका। कहा जाता है कि इसी वंश के कुछ व्यक्तियों ने मुसलमानों के साथ भोजन करके जाति के नियम को भंग किया था। विदेश-यात्रा के संबंध में भी उस समय जाति की ओर से कड़ी पाबन्दी थी। द्वारकानाथ पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इंग्लैण्ड जाकर इस पाबन्दी को तोड़ा। देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इस आत्म-स्वातन्त्र्य को कायम रखा। किन्तु वह अपने पिता की भांति भारतीय अन्ध-विश्वास और रूढ़ियों के इतने कट्टर विरोधी नहीं थे। धीरे-धीरे उनमें आध्यात्मिक विचारों की प्रधानता होने लगी। प्रार्थना और तपस्या की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ती गई। उन्होंने हिमालय

की उच्च पर्वत श्रेणियों में बहुत भ्रमण किया। एक बार अपने ६ वर्षीय बालक रवीन्द्रनाथ को भी अपने साथ ले गये थे।

बालपन

रवीन्द्रनाथ का जन्म मंगलवार ७ मई को ३ बजे प्रातःकाल कलकत्ते में हुआ। इनकी माता का नाम शारदा देवी था। ये अपने पिता की १४ वीं सन्तान थे। इसमें सन्देह नहीं कि रवीन्द्रनाथ को प्रारंभिक स्फूर्ति अपने पिता से ही मिली। वह प्रायः उनके पास बैठा करते थे। अपने पिता के ध्यान के समय वह उनके पास खेला करते थे। उस समय जो भी नई चीजें वह देखते थे वे सब उनके लिए नई खोजें थीं। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने अपने पिता से ध्यान, प्रार्थना, एकान्त-प्रेम, शान्ति आदि बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें सीखीं और उनके मनुष्यत्व का विकास हुआ।

बाल्यकाल में ही उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। पिता आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित हो चुके थे अतएव उन्हें बाल्यकाल में सुख नहीं मिला। नौकरों की देख-रेख में उनका बहुत सा समय बीता। विद्याध्ययन के लिए उन्हें स्कूल भेजा गया किन्तु उनका मन स्कूल की पढ़ाई में न लगा। लाचार उन्हें घर पर ही पढ़ाने का प्रबन्ध किया गया। १८७३ ई० में उनका उपनयन संस्कार हुआ। इसी वर्ष उन्होंने 'पृथ्वीराज-पराजय' नामक नाटक की रचना की। दूसरे वर्ष १८७४ ई० में उन्होंने शेक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटक मेकबेथ का बंगला में अनुवाद किया। अब वह धीरे धीरे कविता, कहानी आदि भी लिखने लगे।

दिव्यप्रकाश

सन् १८७७ में उन्होंने पहिली बार इंग्लैण्ड की यात्रा की। वह पहिले तो ब्राइटन स्कूल में भर्ती हुए फिर उसे छोड़कर यूनिवर्सिटी कालेज लंदन में भर्ती हुए। इस शिक्षा से उन्हें संतोष नहीं हुआ और वह एक वर्ष बाद भारत आ गये।

रवीन्द्रनाथ बचपन से ही प्रतिभाशाली थे। बौद्धिक प्रतिभा के साथ ही साथ आध्यात्मिक विचारों की एक गहरी धारा उनके भीतर प्रवाहित

हो रही थी। उन्हें प्रकाश किस प्रकार मिला यह निस्संदेह आश्चर्यपूर्ण है। वह स्वयं कहते है—"सूर्य देवता सामने के वृक्षों से झांक रहे थे। मैं उनका स्वागत करने अपने तिमंजिले मकान के छज्जे पर दौड़ गया। वृक्षों या सूर्य की किरणें पड़ रही थीं। इस समय एकाएक मुझे दिव्य प्रकाश मिल गया। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु इस समय एक ही प्रतीत होती थी—सारा विश्व एक दिखाई देता था। सब चेतन जगत्—यह सारा जीवन प्रकाश और प्रेम से परिपूर्ण दिखाई देने लगा। इस अपूर्व दृश्य का वर्णन मानवी शक्ति के परे है। सूर्य की किरणें हर्ष और सौंदर्य से उत्फुल्ल प्रतीत होने लगीं। प्रकृति का घूंघट हट गया। दूर से दूर, इस सिरे से उस सिरेतक प्रकाश और सौंदर्य की असीमता ही दिखाई देती थी। इससे मुझ में इतना आनन्द आ गया कि उसने लगभग पीड़ा का रूप प्राप्त कर लिया था। पड़ोसी मानवी प्रेम से अभिभूत प्रतीत होने लगे। मैं सड़क के एक दीन भिखारी को भी बड़े प्रेम से देखता था और मेरा हृदय उसके प्रति सहानुभूति से भर जाता था। मैंने बच्चे को अपने साथी के गले में बाहें डालते हुए देखा और यह दृश्य मेरे हृदय में इतना चुभा कि आंखों से आंसू निकल पड़े।

"यह अन्तर्दृष्टि—यह प्रकाश जो कि समुद्र या पृथ्वी पर कभी नहीं था—निरन्तर मेरे साथ रही और अपना सारा जीवन आनन्द की अनुभूति में लगाने का मैंने विचार किया। मेरे बड़े भाई ने मुझे उनके साथ जाकर दार्जिलिंग के चमत्कार पूर्ण प्राकृतिक दृश्यों को देखने के लिए कहा। मैं उनके साथ पहाड़ पर गया; किन्तु मुझे यह कहते हुए हँसी आती है कि मैं गलती पर था। सारा आनन्द खिसक गया। हरएक चीज पीछे रह गई और दिन के प्रकाश के साथ लुप्त हो गई। बजाय इसके कि और अधिक प्रकाश देखूं सारा आनन्द मिट गया। उस समय मेरे आध्यात्मिक ध्येय में जो बाधा पड़ी वह मेरे जीवन का सबसे गहरा सबक है। इसका प्रयोजन यह कि हमें अपने रास्ते से जीवन की शोध करने की आवश्यकता नहीं है। उसे ही हमारी खोज करनी चाहिए। इस बात की

आवश्यकता है कि हम उसके मार्ग से उसका अनुभव करें। मनुष्यों से दूर—पहाड़ों में खोजने के बजाय गरीबों के बीच हमें उसका पता लगाना चाहिए।"

इसी भाव को श्री रामनरेश त्रिपाठी से बड़ी खूबी से बयान किया है। भगवान भक्त से कहता है—

"तू ढूंढ़ता मुझे था, जब कुंज और वन में।
मैं खोजता तुझे था तब दीन के संदन में॥"

१५ वर्ष की अवस्था के पूर्व से ही वह लिखने लग गए थे। अपने आरंभिक काल में ही वह अच्छी रचनायें करने लगे थे। उत्तरोत्तर उनकी रचनायें उनकी प्रतिभा का परिचय देने लगीं और जल्दी ही उनकी धाक बंगाली साहित्य पर बैठ गई।

कवित्व का बिकास

६ दिसम्बर सन् १८८३ को मृणालिनीदेवी के साथ उनका विवाह हुआ। साहित्यिक कार्यों में वह अब अधिक प्रवृत्त हुए। और अपनी साहित्यिक योग्यता के कारण वह लोकप्रिय होने लगे। कुछ लोग उनको 'बंगाल की शैली' के नाम से पुकारने लगे। १८६२ में उनकी 'मानसी' नामक एक प्रौढ़ रचना प्रकाशित हुई। वृद्ध पिता ने रवींद्रनाथ को कलकत्ता छोड़कर गांव के शान्त वातावरण में रहने की सलाह दी। अतएव वह अपनी जमींदारी स्यालदा नामक ग्राम में, जो गंगा के किनारे है, जाकर रहने लगे। यहां रवींद्रनाथ के जीवन के सबसे अधिक सुखी दिन बीते। वह कभी-कभी अपनी नाव में बैठकर गंगा के बीच के रेतीले मैदान में चले जाते, जो कहीं-कहीं किनारे से ३ मील दूर है। वह वहां अकेले ही प्रकृति से अपने हृदय का सम्बन्ध स्थापित करने में तल्लीन होजाते थे। उन्होंने वहां बहुत ही सुंदर रचनायें कीं किंतु इस प्रकार एकांतप्रियता एवं कल्पना के लोक में विचरण करने के साथ ही वह गांव की वास्तविक परिस्थिति से उदासीन नहीं रहे। अपनी जायदाद के अच्छे प्रबंध की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया और ग्रामों की समस्याओं का भी अध्ययन

किया। इस समय वह ऐसे अच्छे प्राकृतिक दृश्यों के विचार में थे, जिनको वह अधिक चाहते थे और जिनका उन्होंने बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। विस्तृत एवं शस्य-श्यामल मैदान, सुंदर नहरें और पक्षियों का कलरव उनको बहुत आकर्षित करता था। प्रकृति के तादात्म्य स्थापित कर लेने में एवं अपनी प्रतिभा के विकास में यहां उन्हें पर्याप्त शान्ति और समय मिला।

यहां का समय सफलता एवं सुंदर रचनाओं की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लगभग चार वर्षों तक उन्होंने निरंतर एक से एक अच्छे निबन्ध, कहानियां और कविताएं ही नहीं लिखीं किंतु अच्छे नाटक भी लिखे। 'बलिदान' बंगला साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। चित्रांगदा भी एक उच्चकोटि की रचना है। वह अपने ढंग की एक बेजोड़ रचना है। उनके गीतिकाव्यों की श्रेष्ठता भी अपनी चरमता पर पहुंचने लगी थी। उनका 'सोनारतरी' नामक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें उनके रहस्यवादी विचारों का अच्छा विकास दिखाई देता है। इसके दो वर्ष बाद 'चित्रा' और फिर 'उर्वशी' प्रकाशित हुई। ये रचनाएं विश्व-साहित्य में सौंदर्य-पूजा की दृष्टि से बेजोड़ हैं।

स्वदेश-भक्ति

रवींद्रनाथ का हृदय देशप्रेम से परिपूर्ण था। वह विदेशी शोषण के विरोधी थे। काका कालेलकर के शब्दों में देशभक्ति उनका व्यसन नहीं किंतु स्वभाव था। उस समय देश में दो प्रकार के लोग थे। एक प्रकार के लोग मानते थे कि—हम गिरे हुए हैं, इसलिए जो कुछ हमारा है, सब रद्दी है, हमारी संस्कृति कूड़ा-कर्कट है, उसे साफ करके हमें अपने राजकर्ताओं का अनुकरन करना चाहिए। उनकी संकीर्ण-बुद्धि में यह नहीं आया कि अनुकरण ही मरण है। अन्ध-अनुकरण का जीवन कृत्रिम होता है, अपमानकारक होता है और होता है अत्यन्त ही हास्यास्पद। इसके विपरीत दूसरा पक्ष कहता था—"अंग्रेज बुरे हैं। उनकी संस्कृति बुरी है, उनसे द्वेष रखना चाहिए, उन्हें गालियां देनी चाहिएं। हमारा सब कुछ बढ़िया है, हम लोग तो संस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर

विराजमान हैं। हमें दूसरों से क्या सीखना है?" किन्तु इन लोगों के भी ध्यान में नहीं आया कि यह वृत्ति भी उतनी ही कृत्रिम और खोखली है। रवीन्द्रनाथ इन दोनों का त्याग करने का कहते थे—"तुम अपने को पहचानो। अपना जीवन शुद्ध और समृद्ध करो। तपस्या से तुम्हारी शक्ति अपने आप बढ़ने लगेगी, फिर किसीकी ताकत नहीं जो तुम्हारा अपमान करे।

वह चाहते थे कि भारत के प्राचीन आदर्शों को फिर जाग्रत और जीवित करना चाहिए। उन्होंने आर्यों की सभ्यता तथा उपनिषदों पर व्याख्यान दिये और सिक्खों, राजपूतों एवं मरहटों की वीरता एवं आत्म-विश्वास की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

शान्तिनिकेतन की स्थापना

इस समय उनका सबसे बड़ा स्मृति-चिन्ह शान्ति-निकेतन है। इस विश्व-विख्यात विद्यालय की स्थापना सन १६०१ में हुई। हमारे प्राचीन आदर्शों के पुजारी होने के साथ-साथ रवीन्द्रनाथ पश्चिम की वर्तमान प्रगति से एकदम उदासीन नहीं थे। शांतिनिकेतन में पश्चिम की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को कुछ अंशों में ग्रहण भी किया गया। वह चाहते थे कि इस विद्यालय के द्वारा प्राचीन आदर्शों की प्राप्ति की जाय। और भारतीय विद्यार्थी के मन और आत्मा का इतना विकास कर दिया जाय कि वह सौन्दर्य, प्रेम और ईश्वर की ओर उन्मुख हो सके। शांतिनिकेतन एक आदर्श संस्था समझी जाने लगी और देश ही नहीं विदेशों से भी विद्यार्थी आकर भरती होने लगे। इसी प्रकार विदेशों से अध्यापक भी शान्ति-नेकतन में आकर काम करने लगे। इनमें दीनबन्धु एन्ड्र ूज और पीयर्सन काफी प्रसिद्ध अध्यापकों में से थे।

मृत्यु का मर्म

कविवर का गार्हस्थ जीवन इस समय काफी सुखी था। शिक्षा-व्रती कवि जिस समय अपने आदर्श शिक्षालय के संगठन में प्रवृत थे उस समय उनकी धर्मपत्नी उनके इस कार्य में बराबर सहयोग देती थीं।

अपने हाथ से छात्रों के लिए जलपान तैयार करने का भार उन्होंने लिया था। छात्रों को अपने स्नेह से उन्होंने गढ़ना चाहा था। विद्यालय को आरम्भ हुए अभी एक वर्ष भी नहीं हुआ था कि कवि-पत्नी का देहान्त हो गया। कवि-संसार को भंग करके वह अकाल में ही चल बसीं। मृत्यु-शय्या पर कवि ने अपनी पत्नी की जैसी सेवा-शुश्रूषा की उसकी छाप आज भी परिवार के लोगों पर त्यों-की-त्यों अंकित है। पत्नी के असामयिक निधन से कवि को मर्मान्तक पीड़ा हुई।

कवि के जीवन का अब बड़ा ही दुःखमय अध्याय प्रारम्भ होता है। सन् १९०२ के नवम्बर मास में पत्नी का देहान्त तो हो ही गया था, दो वर्ष बाद ही उनकी दूसरी कन्या की भी मृत्यु हो गई। इसके बाद १९०५ में उनके वृद्ध पिता भी चल बसे। नियति का निर्दय प्रहार यहां तक ही सीमति नहीं रहा। एक ही वर्ष बाद उनके बड़े पुत्र की भी मृत्यु हो गई। अपने इस पुत्र को वह बहुत प्यार करते थे। मृत्यु के निरंतर प्रहारों के कारण कवि की आत्मा करुण-क्रन्दन कर उठी। 'स्मरण' 'खवैया' और 'नौका डूबी' नामक रचनाएं इसी काल की हैं। इन रचनाओं में कवि के बड़े ही मार्मिक उद्‌गार हैं। इस शोक के बीच ही कवि को एक दूसरा दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ। तब निश्चित रूप से उन्होंने यह जान लिया कि मृत्यु अन्त नहीं जीवन की पूर्णता है।

पश्चिम-प्रवास

इसके बाद से कवि ने पश्चिम में जाना प्रारंभ किया। सबसे पहले वह बीमारी की अवस्था में इग्लैंड गये और वहां उनका एक बड़ा आपरेशन हुआ जो कि बिलकुल सफल रहा। यही वह समय था जब कि उनकी अपनी गीतांजलि नामक बंगला कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। अनुवाद स्वयं कवि ने किया था। इस छोटी सी सुन्दर काव्य-पुस्तक ने उन्हें विश्व-विख्यात कर दिया। उन्होंने अमेरिका की यात्रा की और विश्य-विख्यात होकर १९१३ में भारत लौटे। भारत आने के कुछ ही सप्ताह बाद विश्व-साहित्य का सुप्रसिद्ध नोबल पुरस्कार

उन्हें मिला। सिर्फ एक ही कवि की साधना से भारतवर्ष की एक प्रान्तीय भाषा विश्व-साहित्य की भाषा बन गई। प्रतिकूल वातावरण एवं साधन-हीनता के होते हुए भी अपने चारों ओर के असहयोग को लांघ जाने और उन्हें बदल देने में ही रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा की सिद्धि है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी वीणा के स्वरों से निराश और विक्षुब्ध जाति में नव-जीवन का संचार किया। सांप्रदायिकता के स्थान राष्ट्रीयता को प्रतिष्ठित किया। उन्हींके प्रयत्न से नवजाग्रत बंगाली मानस स्वाधीनता के स्वप्न से व्याकुल और चंचल हो उठा। स्वधर्म-प्रतिष्ठा की साधना में रवीन्द्रनाथ कवि ही नहीं पथ-प्रदर्शक भी हैं।

इन्हीं वर्षों में जब कि सारे विश्व में उनकी कीर्त्ति-कौमुदी फैल चुकी थी, कवि की अन्य महत्त्वपूर्ण रचनायें प्रकाशित हुईं। उन्हें 'नाइट' की उपाधि प्रदान की गई तथा अन्य कई प्रकार से देश में उनका सम्मान हुआ।

विश्वभारती का जन्म

उन्होंने राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के आदर्शों को मूर्तरूप देने के लिए 'विश्व-भारती' नामक एक विश्व-संस्कृति की संस्था की स्थापना की और ग्राम-सुधार के लिए श्रीनिकेतन की स्थापना की, जो कि ग्रामों के पुनर्निर्माण के लिए विश्व-भारती का एक विभाग है। सन् १९२० और ३० के बीच में उन्होंने बड़ी यात्रायें कीं। किन्तु उनका ध्यान सदैव विश्वभारती की उन्नति में ही लगा रहा। नोबल पुरस्कार से और पुस्तकों से जो कुछ उन्हें मिला वह सब वह उसके लिए खर्च करते रहे। शनैः-शनैः वह एक विश्व-विद्यालय के रूप में परिपूर्ण हो गया और उसका नाम सचमुच ही विश्व-भारती हो गया जो कि संसार-भर की संस्कृति का बोधक है। संसार के विभिन्न देशों के विद्यार्थी महा-कार्य एवं संस्कृति के बन्धुत्व में परस्पर मिल-जुल कर रहते हैं। यूरोप और एशिया के कतिपय बड़े-बड़े विद्वान भी यहां आते हैं और वहां रह कर भारतीय कला, संगीत और संस्कृति का अध्ययन करते हैं।

कवीन्द्र यहां साधारणतः एक अध्यापक और संस्थापक सभापति के रूप में रहते थे। उन्होंने अपनी सारी संपत्ति ही नहीं, अपना सारा जीवन इसे अर्पण कर दिया।

पशुता का विरोध

साहित्य, कला और संस्कृति के लिए जहां कवि ने इतना किया वहां समय-समय पर स्वदेश-प्रेम भी प्रदर्शित किया। वंग-भंग के समय उन्होंने बहुत काम किया। जलियांवाला बाग के हत्या-काण्ड से तो वह इतने दुखी हुए कि उन्होंने अपनी 'सर' की उपाधि का परित्याग कर दिया। उनके अंग्रेज मित्र इससे असंतुष्ट होकर अलग हो गए; किन्तु उन्होंने इसकी बिल्कुल चिन्ता नहीं की। राजनीति में गांधीजी से कुछ मतभेद होते हुए भी वह उनपर काफी श्रद्धा रखते थे। यही हाल गांधीजी का भी था। जब बंगाल में गांधी-विरोधी आन्दोलन आरंभ हुआ उस समय उन्होंने उसका कड़ा विरोध किया।

उन्होंने वर्तमान अंग्रेजी शासन की उस नीति की सदैव निन्दा की है जिसके द्वारा भारतवासियों की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया। और करोड़ों व्यक्तियों को दरिद्रता और दीनता का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है। वह साम्राज्यवाद के बड़े विरोधी थे किन्तु उन्होंने साम्राज्यवाद का मुकाबला करने एवं स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए कभी हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन लेने की राय नहीं दी। सभ्यता तथा सांस्कृतिक उत्थान के लिए उन्होंने सदैव अंग्रेजों के साथ सहयोग करने की राय दी। वृद्धावस्था के कारण अन्तिम दिनों में उनका स्वास्थ्य कुछ खराब रहने लगा था किन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्ति का ह्रास नहीं हुआ। समय-समय पर जब आवश्यकता हुई तब उन्होंने बर्बरता, पशुता, जुल्म और हत्याओं के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द की और करारे जवाब दिये।

देन और प्रस्थान

कवीन्द्र की प्रतिभा बहुमुखी थी। वह केवल कवि, उपन्यासकार, नाटककार एवं कहानी लेखक ही नहीं थे, किन्तु एक बड़े संगीतज्ञ, चित्रकार

तत्वज्ञानी, पत्रकार, अध्यापक, वक्ता एवं अभिनय की कला में प्रवीण थे। संस्कृत के काव्य एवं मध्यकाल के वैष्णव साहित्य से उन्हें बहुत प्रेरणा मिली थी। उपर्युक्त विषयों पर उनका असाधारण अधिकार था। ज्ञान की तो वह मानो सजीव-मूर्ति थे। अपनी असाधारण प्रतिभा और भावावेग से उन्होंने विश्व-मानव की वन्दना की। देश और जाति के संकीर्ण बंधनों को त्याग कर समस्त मानवता को अपने हृदय में धारण किया। पीड़ित मानव की वेदना को भाषा प्रदान की, उसकी आशा को उन्होंने छन्दों में रूपान्तरित किया और उसके आनन्द को संगीत की सैकड़ों धाराओं में बहाया। मानव-महत्त्व के इस पुजारी ने देश-विदेशों में भ्रमण करके मानवता को दानवी-शक्ति से छुटकारा दिलाने की अमर वाणी सुनाई। नगर छोड़कर देहात की एकान्त गोद में साधना करते हुए दीर्घ-जीवन व्यतीत करके, ८ अगस्त १९४१ को गुरु पौर्णिमा के दिन अस्सी वर्ष की अवस्था में अपने जोड़ासांकों के राजभवन में शिष्य-प्रशिष्यों के बीच शरीर त्याग किया। उन्हें खोकर विश्व-मानव दरिद्री हो गया।

श्री किशोरलाल मश्रुवाला के शब्दों में—"व्यास, वाल्मीकि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, पराशर आदि वैदिक ऋषि सब कालों में वर्तमान पुरुष हो गये। अगर लिखित इतिहास का लोप हो जाय तो श्री रवीन्द्र की भी उन्हींके समकालीनों में होगी।"

गांधीजी कहते हैं—"गुरुदेव हिंदुस्तान की सेवा के मार्फत सारे जगत् की सेवा करना चाहते थे। और सेवा करते-करते चले गये। उनका देह ही अधूरा है। उनकी आत्मा तो अमर है जैसे हम सबकी है। उनकी प्रवृत्तियां जैसी व्यापक थी और प्रायः सभी ऐसी पारमार्थिक थीं कि उनकी मार्फत वह अमर रहेंगे। शांति-निकेतन, श्री निकेतन, विश्व-भारती—ये सब एक ही कृति के नाम हैं। वे गुरुदेव का प्राण थीं। उन्हींके लिए दीनबंधु गये व बाद में गुरुदेव।"

: ६ :

इस्लाम का विश्व कवि

[सर मुहम्मद इकबाल]

जन्म और प्रारम्भिक शिक्षा

कभी-कभो ऐसी विभूतियों का जन्म होता है जो केवल अपने देश या समय में ही कीर्ति प्राप्त नहीं करते किन्तु उनकी कीर्ति-पताका देश और काल की सीमाओं को पार कर सब काल और सब देश में फहराने लगती है। इन्हीं विभूतियों में सर इकबाल का नाम भी उल्लेखनीय है। २० वीं शताब्दी के आरंभिक काल में अपनी प्रतिभा से उन्होंने पूर्व-पश्चिम दोनों को ही जगमगा दिया था। उनका जन्म सन् १८७३ ई० में स्यालकोट (पंजाब) में हुआ था। सर इकबाल के पूर्वज काश्मीरी ब्राह्मण थे। संभवतः मुग़लकाल में कई पीढ़ियों पहले उन्होंने इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। अतः सर इकबाल के व्यक्तित्व में हिंदू और मुस्लिम संस्कृति के शुभगुणों का मेल हो गया था। सर इकबाल की प्रारंभिक शिक्षा स्यालकोट में ही हुई। अपनी प्रारंभिक शिक्षा समाप्त करके वह बी० ए० का अध्ययन करने के लिए लाहौर गए। वहां आपने एम० ए० पास किया। यहीं आपको दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर आर्नल्ड साहब के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रोफेसर साहब यह देखकर बहुत प्रसन्न हुए कि सर इकबाल दर्शन में विशेष रुचि रखते हैं। वह उनसे स्नेह रखने लगे और उनका यह स्नेह-संबंध जीवन-पर्यन्त रहा।

कार्य-क्षेत्र में

एम० ए० पास कर लेने पर लाहौर के ओरियन्टल कालेज में वह 'रीडर' बना दिये गए। कुछ समय के बाद वह गवर्नमेंट कालेज में ही लेक्चरार हो गए। यहां भी उन्होंने अच्छी प्रकार काम किया। १६०५ ई०

में जब उनका इंग्लैंड जाकर कानून और दर्शनशास्त्र के अध्ययन का विचार निश्चित हुआ तो उन्होंने गवर्नमेंट कालेज से नौकरी छोड़ दी। इंग्लैंड जाकर अध्ययन आरंभ किया। प्रोफेसर आर्नल्ड इस समय यहीं पर थे। उन्होंने सर इकबाल को राय दी कि वह फारसी रहस्यवाद पर रिसर्च (खोज) सम्बन्धी कार्य करें। उनके सूचनानुसार सर इकबाल ने इस दिशा में बड़ी लगन से कार्य किया। इधर केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में कानून का अध्ययन चल रहा था, उधर रहस्यवाद पर अनुसंधान कार्य भी। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से बैरिस्ट्री पास करके वह जर्मनी गये। यहां म्यूनिक विश्वविद्यालय से उन्हें 'डाक्टर आफ फिलास्फी' की उपाधि प्रदान की गई। तीन वर्षों के बाद वह भारतवर्ष लौटे। यहां वह वकालत करने लगे। कालेज की ओर से उन्हें दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर का स्थान दिया गया, किंतु मित्रों के आग्रह से उन्होंने वकालत करना ही ठीक समझा। वह वकालत करने तो लगे, किंतु साहित्य और दर्शन में विशेष रुचि होने के कारण एक सफल बैरिस्टर नहीं हो सके।

साहित्यिक जीवन

अब ज़रा उनके साहित्यिक जीवन पर दृष्टि डालें। अंग्रेजी में एक कहावत है। "Poets are born, not made." अर्थात् कवि जन्मतः उत्पन्न होते हैं बनाये नहीं जाते। डाक्टर इकबाल के सम्बन्ध में यह उक्ति सर्वांश में चरितार्थ होती है। छोटी उम्र से ही उन्हें कविता लिखने का शौक था। लाहौर के एक मुशायरे (कवि-सम्मेलन) में जब इन्होंने पहले-पहल अपनी कविता पढ़ी तो श्रोता-लोग दङ्ग रह गये और एक दम वाह-वाह कह कर चीख पड़े। सन् १८९९ में अन्जुमने इस्लाम के वार्षिकोत्सव के अवसर पर मित्रों के आग्रह से आपने जो कविता पढ़ी थी वह इतनी प्रभावशाली थी कि उपस्थित जनता ने उसे कई बार पढ़ने का आग्रह किया। इतना ही नहीं, इनके प्रभाव से यतीमखाने के लिए चंदे की वृद्धि होने लगी। इस कविताने उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैला दी। कहा जाता है कि लाहौर आने के पूर्व ही स्यालकोट में इन्होंने

जो ग़ज़लें लिखी थीं उन्हें उस समय के प्रसिद्ध कवि दाग़ के पास संशोधन के लिए भेजीं। दाग़ निजाम दरबार के सम्मानित और आश्रित कवि थे। दाग़ उस समय दिल्ली में थे। जब दाग़ ने डाक्टर इकबाल की कवितायें देखीं तो वह उनसे बड़े प्रभावित हुए और यह लिखकर वापिस करदीं कि इसमें संशोधन के योग्य कोई भूल नहीं है। उनकी 'तस्वीरे दर्द', 'शिकवा' और 'जवाबे शिकवा' इतनी सुन्दर रचनाएं थीं कि कविसम्मेलनों में उनके पढ़े जाने के बाद ही डाक्टर इकबाल की कीर्ति चारों ओर फैल गई। वह उर्दू के उदीयमान कवि माने जाने लगे। सन् १९०६ में 'मखजन' नामक एक उर्दू मासिक पत्र लाहौर से प्रकाशित होने लगा। पत्र के संपादक थे सर अब्दुल कादिर। पत्र बड़ी शानो-शौकत से प्रकाशित हुआ था। डाक्टर इकबाल की 'हिमाला' नामकी रचना पहली बार इसी पत्र में प्रकाशित हुई। यह कविता सबने बहुत पसन्द की। इसके बाद तो उर्दू के अन्य अच्छे-अच्छे पत्रों में इनकी कवितायें प्रकाशित होने लगीं।

रचनाएं और ख्याति

डाक्टर इकबाल की कविताओं को तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं। (१) सन् १९०५ के पूर्व की रचनाएं (२) इंग्लैंड में लिखी हुई रचनाएं और (३) बाद की रचनाएं। इस अन्तिम काल में डाक्टर इकबाल को सहसा ऐसा अनुभव होने लगा कि उन्हें अपने विचार फारसी द्वारा भी व्यक्त करने चाहिएं। अब उन्होंने फारसी में भी लिखना आरम्भ कर दिया, जिससे उन्हें यह अनुभव हुआ कि दार्शनिक भावों की अभिव्यक्ति उर्दू की अपेक्षा फारसी द्वारा अधिक अच्छी तरह की जा सकती है। फारसी में सबसे पहले 'असरारे खुदी' नामक उनका कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ। इस कविता-संग्रह ने उनकी कीर्ति भारत और इंग्लैंड में ही नहीं इसके भी बहुत दूर टर्की, अफगानिस्तान और ईरान में फैला दी। इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद प्रोफेसर निकलसन द्वारा सन् १९२० में प्रकाशित हुआ। इस अंग्रेजी अनुवाद से इंग्लैंड

और अमेरिका में भी उनकी कीर्ति फैल गई। इसके बाद तो उनके और भी २-३ कविता संग्रह प्रकाशित हुए। ये कविता-संग्रह दार्शनिक भावों से भरे हुए थे। इधर उर्दू वाले यह देख कर कि डाक्टर इकबाल ने उर्दू में लिखना छोड़ दिया है, यह मांग करने लगे कि वह उर्दू को इस प्रकार एकदम छोड़ न दें। उनकी मांग पर डाक्टर इकबाल ने इस ओर फिर ध्यान दिया और उनके दो कविता-संग्रह उर्दू में प्रकाशित हुए। ये उर्दू की कविताएं भी दार्शनिक भावनाओं से ओतप्रोत हैं। इन कविताओं में कल्पना-जगत् की सैर की अपेक्षा दर्शन को जीवन में उतारने का संदेश अधिक है। आपके मद्रास में दिये भाषणों का एक संग्रह भी जिसका नाम 'इस्लाम में विचारों का पुनर्निमाण' है, उल्लेखनीय है। पश्चिम के और इस्लाम के दार्शनिक विचारों का इसमें बड़ा ही सुन्दर मेल है।

रवीन्द्र और डाक्टर इकबाल

भारतीय उर्दू कवियों में डाक्टर इकबाल ही सबसे अधिक लोकप्रिय हुए। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने वाले दो ही भारतीय कवि हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर और डाक्टर इकबाल। दोनों की कविताओं में बहुत बातों में समानता और बहुत बातों में विभिन्नता है। दोनों ही स्वदेश-प्रेमी और विश्व-बन्धुत्व तथा मानवता के उपासक थे। दोनों ही विश्व के उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न देखने वाले थे। रवीन्द्रनाथ यद्यपि अपनी इन विशेषताओं में डाक्टर इकबाल से कुछ कदम आगे ही थे किंतु डाक्टर इकबाल का महत्त्व इससे कम नहीं होता। जहां तक रास्तों का सम्बन्ध है वे दोनों भिन्न थे। ध्येय में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी उनके मार्ग भिन्न-भिन्न थे। रवीन्द्रनाथ का मार्ग शांति का था तो डाक्टर इकबाल का मार्ग संघर्ष का। दोनों ही रहस्यवादी कवि थे, किंतु उनके रहस्यवादी विचारों की धारा भिन्न-भिन्न थी।

युगान्तरकारी कवि

डाक्टर इकबाल की आरंभिक रचनाएं स्वदेश-प्रेम और राष्ट्री-

यता से भरपूर रहती थीं। उनका 'सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' नामक राष्ट्रीय गीत और 'नया शिवाला' आदि रचनाएं इसके बड़े ही सुन्दर नमूने हैं। किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया उनकी यह राष्ट्रीयता कम होती गई। पश्चिम के इस्लाम धर्मावलम्बी देश, इस्लाम धर्म और मानवता के प्रति उनका प्रेम बढ़ता गया और राष्ट्रीय विचारों का लगभग लोप-सा होगया। डाक्टर इकबाल प्रधानतः इस्लाम के कवि थे। उनकी कविताओं में जो इस्लामी वातावरण और इस्लाम धर्म के सिद्धांतों पर विश्वास मिलता है वह उनके इस्लामी साहित्य के अध्ययन और उन सिद्धांतों में पूर्णतः विश्वास रखने के कारण था। यदि इस दृष्टि से देखें तो यह कहा जा सकता है कि वह इस्लाम के ही नहीं, भारत के, पूर्व के, और मानवता के कवि थे।

डाक्टर इकबाल युगांतरकारी कवि थे। उन्होंने उर्दू-कविता में युगांतर उपस्थित कर दिया। उनकी शैली, अभिव्यक्ति की प्रणाली तथा दार्शनिकता का उनके समकालीन कवियों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और इन बातों में वे तथा नई पीढ़ी के कवि उनका अनुकरण करने लगे। इसी प्रकार उनके विचारों का भी प्रभाव उर्दू पर पड़ा। कार्ल मार्क्स के सिद्धांतों को पढ़कर इकबाल उनसे प्रभावित हुए थे। उनकी कुछ रचनाओं में मज़दूरों के दुर्भाग्य से सहानुभूति एवं पूंजीवादियों का विरोध प्रकट हुआ है। उनके इन विचारों ने भी तत्कालीन साहित्यिकों पर गहरा प्रभाव डाला और इस तरह की कवितायें उर्दू में लिखी जाने लगीं। आज तो इस प्रकार की कविताओं की जैसे बाढ़ आ गई है। उर्दू के मासिक तथा साप्ताहिक पत्रों में इस प्रकार की कई कवितायें प्रतिदिन प्रकाशित होती रहती हैं। आज-कल इस प्रकार की कविताओं का केवल राजनीतिक महत्त्व ही नहीं, साहित्यिक महत्त्व भी हो गया है। क्योंकि ये राजनीतिक सभाओं में ही नहीं साहित्यक गोष्ठियों में भी उतने ही आदर से पढ़ी जाती हैं और पसन्द की जाती हैं। इस विचार-धारा के लिए उनके प्रवर्त्तक डाक्टर इकबाल का ऋण उर्दू साहित्य पर है। वह केवल पूंजी-

वाद के ही विरोधी नहीं थे, उन्होंने साम्राज्यवाद का भी विरोध किया है। और कहीं-कहीं ती आगे बढ़कर उन्होंने प्रजातंत्र का भी विरोध किया है। उनका कहना था कि प्रजातंत्र में सिर या हाथ गिने जाते हैं अर्थात् संख्या से—बहुमत से—निर्णय होता है, किंतु कौन-से विचार भारी हैं—अधिक हितकर हैं, यह नहीं देखा जाता। महत्त्व उच्च और अच्छे विचारों का होना चाहिए, केवल मनुष्यों की बड़ी संख्या का नहीं।

राजनीति और शिक्षा के क्षेत्र में

डाक्टर इकबाल पहले साहित्यिक थे, बाद में और कुछ। उन्होंने राजनीति में भी भाग लिया, किंतु वह उनका प्रिय क्षेत्र नहीं था। वह एक बार लेजिस्लेटिव कौंसिल के मेंबर चुने गए थे। मुस्लिम-लीग के सभापति भी वह रहे और सन् १९३१ की दूसरी राउण्डटेबल कान्फ्रेंस में वह सम्मिलित भी हुए थे। उनका दूसरा क्षेत्र था शिक्षा। पंजाब-विश्व विद्यालय के महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य करके अपने परामर्श और कार्यों द्वारा उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में उसे उन्नत बनाने की दिशामें महत्वपूर्ण कार्य किये। अफगानिस्तान के अमीर नादिर खां ने अपने यहां शिक्षा-सम्बंधी सुधार के लिए जिन तीन व्यक्तियों को निमंत्रित किया था उनमें डाक्टर इकबाल भी एक थे। दुर्भाग्य से उनके आने के बाद ही नादिर खां मार डाले गए और वह योजना जो इन लोगों के द्वारा बनाई गई थी कार्य रूप में परिणत नहीं की जा सकी।

डाक्टर इकबाल ने अपनी ओर से राज्याश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। किंतु उन्हें 'नाइट' की उपाधि किस प्रकार मिली, इसकी एक बड़ी ही अच्छी घटना है। यह उस समय की है जब कि वह धारा सभा के मेम्बर नहीं चुने गए थे और राउन्ड टेबल कांफ्रेंस में सम्मिलित होने इंग्लैंड भी नहीं गए थे। कहा जाता है कि पंजाब के गवर्नर के यहां एक अंग्रेज मेहमान आये। उन्होंने अपनी यह इच्छा प्रकट की कि वह डाक्टर इकबाल से मिलें। गवर्नर ने उनसे पूछा कि आपको डाक्टर इकबाल का परिचय कैसे हुआ। उन्होंने बताया कि जब वह

ईरान और रूस के कुछ भागों की यात्रा कर रहे थे तो उन्होंने लोगों को डाक्टर इकबाल की रचनाएं बड़ी ही रुचि से पढ़ते देखा। उन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि पंजाब के गवर्नर को इतने प्रसिद्ध व्यक्ति के सम्बंध में जो कि उनके ही प्रांत का निवासी है, कुछ मालूम नहीं। गवर्नर ने डाक्टर इकबाल को अपने यहां बुलाया और बड़ी रुचि से वे सारी बातें सुनीं जो डाक्टर इकबाल और उनके मेहमान के बीच हुई थीं। गवर्नर डाक्टर इकबाल को जानता तो था किंतु उनकी बाहर कितनी ख्याति है और वह कितने विद्वान् हैं, यह उसे नहीं मालूम था। इससे वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने उन्हें 'नाइट' की उपाधि दिलवाई।

डाक्टर इकबाल के अंतिम दिन दुःख से बीते। उनकी पत्नी का स्वास्थ्य एक लम्बे समय से ठीक नहीं था। वह इन्हीं दिनों चल बसीं। डाक्टर इकबाल का स्वास्थ भी ठीक नहीं रहता था, अतएव साहित्यिक-कार्यों को चालू रखने में कठिनाई और बाधा आने लगी। अंत में २१ अप्रैल, सन् १६३८ ई० में थोड़ी सी बीमारी के बाद दर्शन व काव्य-क्षेत्र का यह महापुरुष अचानक इस असार संसार से विदा हो गया। लाहौर में शाही मस्जिद के पास ही उनको भी दफनाया गया। सारे देश में और विदेशों में भी उनकी मृत्यु से शोक छा गया। स्थान-स्थान पर शोक सभायें हुईं और शोक प्रस्ताव पास हुए। डाक्टर इकबाल यद्यपि आज हमारे बीच में नहीं हैं, उन्होंने अपने भौतिक शरीर को त्याग दिया है किन्तु अपनी कृतियों और यश-शरीर से वह आज तक जीवित हैं और सदा रहेंगे।

: ७ :

बलिदान की देवी

[जोन ग्राफ आर्क]

फ्रांस की पराधीनता

१५ वीं सदी का आरंभिक काल फ्रांस के इतिहास में बड़ा ही भयंकर रहा है। यह वह समय था जबकि फ्रांस की शस्य-श्यामला भूमि विदेशियों के पैरों तले रौंदी जा रही थी। उसके भाग्याकाश में काले-काले बादल मंडरा रहे थे और चारों ओर अंधकार था। मानो सर्वनाश की तैयारी होरही है। स्वाधीनता का सूर्य अस्ताचल की ओर शीघ्रता से बढ़ रहा था। फ्रांस की जनता हमारी तरह सदियों से गुलाम नहीं थी। अपनी स्वाधीनता का अपहरण होते देख उन्होंने रणदेवी को रक्तांजलि अर्पण करने में कोई कमी नहीं की किंतु समय के फेर के कारण दिन-प्रतिदिन हालत बिगड़ती ही गई। दुर्भाग्य से देश-द्रोहियों की संख्या भी बढ़ने लगी। अंत में थककर फ्रांस ने विदेशियों के सामने सिर झुका दिया। फ्रांस का अधिपति चार्ल्स अपना सिर छिपाने के लिए देश के अज्ञात स्थानों में भटकता रहा। फ्रांसीसियों के लिए यह पीड़ा असह्य होरही थी। फ्रांसीसी माता ने यह स्वप्न में भी नहीं सोचा होगा कि उसी की कोख से उत्पन्न होने वाला पुत्र उसीको पैरों तले कुचल डालने के लिए तैयार हो जायगा और वही शिक्षा अपनी संतति को दे जायगा। परंतु जो नहीं सोचा था वही हुआ। फ्रांस का एक 'जमींदार' इंग्लैण्ड का राजा बन बैठा। अब उसे फ्रांस का जमींदार बना रहना अपनी शान के खिलाफ लगा। फ्रांस के राजा के सामने जमीदार की भांति घुटने टेकना उसके लिए कठिन होगया। उसने राज-निष्ठा और राज-भक्ति को तिलांजलि देकर बलपूर्वक फ्रांस का राजा बन बैठने के लिए हाथ-पैर मारना

आरम्भ किया। फ्रांस के उत्तर-पश्चिम प्रदेश में कैले से लेकर बोर्दों तक तथा पेरिस और रायन नगर में अंग्रेजों की विजय पताका फहराने लगी। पञ्चम हेनरी उस समय इंग्लैएड के राज-सिंहासन पर आसीन था। उद्धत अंग्रेज सिपाही जहां-तहां उपद्रव करने लगे। भयभीत और त्रस्त होकर लोग जंगलों में छिपने लगे।

बचपन

ऐसी ही इस पराधीनता की यंत्रणा से पूर्ण काल में देवी जोन का जन्म लॉरेन प्रांत के डुमरिम गांव में हुआ। उसके पिता का नाम था जोकेयस आर्क। वह एक साधारण कृषक था। जोन की मां इसाबेला बड़ी धर्मपरायण और कर्त्तव्य-निष्ठ स्त्री थी। जोन के तीन भाई और एक बहिन थी। जोन सबसे छोटी थी। उसके माता-पिता का जीवन बड़ा ही सरल और पवित्र था। उनके पुण्य संसर्ग में रह कर जोन ने शैशव अवस्था से ही भगवान के चरणों में आत्म-समर्पण करना सीख लिया था। वह कभी अपने पिता के साथ खेत पर जाती, कभी भोजन बनाने में अपनी माता की सहायता करती। माता के मुख से बाइबिल का उपदेश और प्राचीन वीर पुरुषों के आत्मोत्सर्ग की आश्चर्यजनक कहानियां सुन-सुन कर उसके हृदय में स्वार्थ-त्याग का आदर्श उत्पन्न होगया था। जैसे-जैसे वह बड़ी होने लगी विदेशियों के उद्धत अत्याचार से पीड़ित देशवासियों को देखकर उसके करुण-हृदय में व्याकुलता का संचार होने लगा। एक बार उसके डुमरिम गांव पर भी उच्छृंखल सैनिकों ने आक्रमण किया। आत्म रक्षा के लिए ग्रामीणों ने जंगल का आश्रय लिया और जब वे चले गये तो लोग वापिस लौट आये। इन्होंने देखा कि गिरजाघर और ग्राम के अधिकांश मकान जलाकर नष्ट कर दिए गए हैं। जोन स्वभाव से ही दयावती और कोमल हृदय थी। इस दृश्य से उसके हृदय पर बड़ी चोट पहुंची। वह बड़ी ही सेवापरायण और ईश्वर-भक्त थी। भगवान में उसकी अटल भक्ति और स्वधर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा थी। पाश्चात्य देशों में ऐसी श्रद्धा साधारणतः कम देखने में आती है। गांव में कोई पाठशाला

न होने से वह पढ़ नहीं सकी किंतु आदर्श जीवन के लिए जिस सच्चरित्रता की आवश्यकता होती है उसे वह बचपन से ही प्राप्त कर रही थी। वह एकांतप्रिय थी। घर के पास ही मैदान में बैठकर विशाल नीलाम्बर अभ्रभेदी पर्वतमाला तथा वन-भूमि के प्राकृतिक दृश्य देखकर बहुत ही आनंद अनुभव करती थी। उसके माता-पिता की इच्छा थी कि वह विवाह करके सुखी-जीवन व्यतीत करे। उसके रूप-लावण्य और पवित्र-जीवन ने ग्रामवासी युवकों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। अनेक युवकों ने विवाह के प्रस्ताव किये, किंतु उसने स्वीकार न किया। उसने 'वर्जिन मेरी' का-सा आदर्श कौमार-व्रत पालन करने की इच्छा प्रकट की। किंतु इससे उसको बड़ी अशांति का सामना करना पड़ा। एक युवक ने 'टौल' के धर्म-विचारालय में उसके विरुद्ध यह अभियोग चलाया कि उसने उस युवक के साथ विवाह करने की प्रतिज्ञा की थी किंतु अब वह उसका पालन करना नहीं चाहती। लोग यह सुनकर अवाक् रह गए। वह कहने लगे कि जोन बड़ी ही शांतिप्रिय, सुशील और कोमल-हृदया है, वह इसका प्रतिवाद न कर सकेगी और उसे विवश होकर इस कपट-जाल में फंस जाना पड़ेगा। किंतु उनका यह विचार गलत निकला। उसने विचारालय में उपस्थित होकर दृढ़ता से कहा—"मेरे विरुद्ध जो अभियोग चलाया गया है वह बिलकुल झूठ और बनावटी है। मैंने कभी किसीके साथ विवाह करने को प्रतिज्ञा नहीं की।" विचारकों ने उसकी सरलता से प्रभावित होकर उस पर विश्वास कर लिया और उसे बरी कर दिया। अब उसका संकल्प और दृढ़ होगया। और अपने पतित देशवासियों के उद्धार की इच्छा अधिक प्रबल होगई।

दिव्य आलोक

फ्रांस की तत्कालीन राजनैतिक अवस्था का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। प्रसिद्ध फ्रांसीसी इतिहास लेखक लामर्टाईन ने तत्कालीन अवस्था का वर्णन करते हुए एक स्थान पर कहा है:-"राजा ने देखा कि जनसाधारण में अपनी प्रजा कहने के लिए कोई नहीं, जनता ने देखा कि

स्वेच्छाचार-शासन के बाहुल्य से राजा कहने के लिए कोई नहीं और फ्रांसवासियों ने देखा कि फ्रांस में अपना स्वदेश कहने के लिए कुछ भी नहीं।" स्वदेश की यह अवस्था जोन के लिए असह्य हो उठी। किस प्रकार स्वदेश मुक्त हो यही विचार उसे व्याकुल करने लगे। अपने देश के उद्धार के लिए एकांत में बैठकर वह घंटों प्रार्थना किया करती। एक दिन ग्रीष्मकाल की संध्या समय उसे गिरजाघर के सामने मैदान में एक आलोक दिखाई दिया। और क्षण भर बाद यह आवाज सुनाई पड़ी—"जोन तू पवित्र चरित्र रह और भगवान पर भरोसा कर।" उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। एक बार फिर उसे यही वाणी सुनाई पड़ी। उस समय वह १५ वर्ष की होगी। इस घटना के बाद फिर दो स्वर्गीय दूत दिव्य भूषणों से भूषित होकर उसको साक्षात् दिखाई दिये। उन्होंने कहा "जोन, डफिन की सहायता के लिए युद्ध में प्रवृत्त हो और पतित स्वदेश का उद्धार कर।" "मैं अबला हूं। किस प्रकार युद्ध किया जाता है यह मुझे नहीं मालूम।" दूत ने उत्तर दिया—"केथोरिन और मार्गरेट स्वयं तुझे सहायता देंगी।" जोन ने ये बातें बड़े ध्यान से सुनीं। कहते हैं कि इसके बाद भी कई बार उसे स्वर्गीय दूत के दर्शन हुए थे। दूतों के अंतर्धान होते ही वह चिल्ला उठी—"मुझे भी अपने साथ लेते चलो।"

धीरे-धीरे यह बात उसके माता-पिता के कानों तक पहुंची। श्रद्धालु माता ने तो उस पर-विश्वास कर लिया किंतु पिता ने नहीं। उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—"यदि मैं तेरे मुंह से ऐसी बातें फिर सुनूंगा तो तुझे मार डालूंगा।" इस प्रतिकूल बात को सुन कर वह चिंतित होगई। वह बड़े धर्म-संकट में पड़ गई। अंत में वह इस विचार पर पहुंची कि पिता की आज्ञा-पालन की अपेक्षा स्वदेश-रक्षा अधिक आवश्यक है। उसने प्रकट रूप से पिता की आज्ञा की उपेक्षा नहीं की और बड़ी कुशलता से घर छोड़ने का विचार किया। जब उसने अपनी चाची की बीमारी का हाल सुना तो उसकी सेवा-सुश्रूषा के लिए पिता की आज्ञा लेकर अपने चाचा के घर चली गई। उसके चाचा बड़े ही उदार हृदय थे। उसकी

बात सुनकर मुग्ध होगए और उसकी सहायता करना स्वीकार कर लिया। वृद्ध चाचा का आश्रय पाकर उसका उत्साह दुगुना होगया। जोन ने अपने चाचा से वेकुलियर्स के शासनकर्त्ता बोड्रीकोर्ट के पास जाकर उसे यह शुभ-संकल्प सुनाने का अनुरोध किया। चाचा ने स्वीकार कर लिया। उस हाकिम ने सारी बात सुनकर कहा कि "अपनी भतीजी को समझा बुझाकर उसके पिता के पास पहुंचा दो।" जोन का चाचा लेक्ज़र्ट निराश होकर लौट आया। जोन यह सुनकर चिंतित होगई, किंतु थोड़ी ही देर बाद उसने उस हाकिम से स्वयं मिलने का संकल्प किया। चाचा के साथ वह हाकिम के पास गई। हाकिम ने प्रश्न किया—"तुम किस लिए मिलना चाहती थीं?" जोन ने कहा कि भगवान की इच्छा है कि राजा इस धर्म-युद्ध में पीछे न हटे। शत्रु-पक्ष के प्रबल होने पर भी उसे राज-सिंहासन मिल जायगा। रीम्स नगर में राजा का राज्याभिषेक उत्सव सम्पन्न करने के लिए ईश्वर ने मुझे आदेश दिया है।"

युद्ध की तैयारी

शासन-कर्ता ने एक धर्म याजक से परामर्श करके सब बातें ड्यूक आफ लौरेन को लिख भेजीं और साथ ही जोन को भी भेज दिया। ड्यूक ने जब उससे बातचीत की तो वह भी मुग्ध होगया। राजा डफिन ने भी यह बात सुनी तथा लोगों ने भी इस प्रकार के प्रार्थनापत्र राजा को भेजे। जोन को चीनन नगर बुलाया गया, जहां प्रजा-सभा का अधिवेशन होने वाला था। ४।। मील का रास्ता तय करके वह, दो सप्ताह बाद, चीनन पहुंची। उसकी परीक्षा लेने के लिए राजा वेश बदल कर बैठा था। यद्यपि उसने राजा को कभी पहले देखा नहीं था किंतु पहचान लिया। उसने कहा— "मैं आपको देववाणी सुनाने आई हूं। ईश्वर का आदेश है कि आप रीम्सनगर की ओर अग्रसर हों, आपको विजय मिलेगी और वहीं आपका राज्याभिषेक होगा।" राजा के दिल में श्रद्धा उत्पन्न होगई। उसने राज्य के बड़े-बड़े शुभचिंतकों से परामर्श किया। सबने जोन से प्रश्न किये और जोन ने दृढ़ता-पूर्वक उत्तर दिये। कुछ तर्क-वितर्क के

बाद सब लोग अनुकूल होगए और उन्होंने अपनी राय राजा के पास भेज दी।

पार्लयामेन्ट का अनुकूल वक्तव्य पाकर राजा ने प्रसन्न हो कर एक घोषणा-पत्र प्रचारित किया जिसमें कहा गया कि फ्रांस को दासता से मुक्त करने के लिए कुमारी 'जोन आफ आर्क' को ईश्वरीय संदेश मिला है। परीक्षा लेने पर वह पुनीत चरित्र और ईश्वर-निष्ठ सिद्ध हुई है। राजा उसको युद्ध में भेजना चाहते हैं, क्योंकि उसके द्वारा राज्य का बहुत कुछ कल्याण होने की आशा है। जन साधारण को इस घोषणा-पत्र से बड़ी प्रसन्नता हुई। कई समरतत्व-वेत्ता प्रतिदिन जोन को युद्ध-विद्या देने लगे। थोड़े ही समय में वह समर-नीति में कुशल होगई। रणवेश में सज्जित होकर वह एक काले घोड़े पर सवार हुई और ब्लोइस नगर की ओर रवाना हुई। वहां सबने उसका स्वागत किया और पराजित राष्ट्र में आशा एवं उत्साह की लहर दौड़ गई।

जोन ने आरलिंस नगर के उद्धार की तैयारी की। आरलिंस नगर अंग्रेजों द्वारा घिरा हुआ था। जोन ने सेना के साथ नगर में प्रवेश किया। अंग्रेजों ने उपेक्षा करके उसे कोई बाधा न पहुंचाई। उसने नगर में प्रवेश करके ईश्वरोपासना की और फिर सारे नगर में भ्रमण किया। वह रक्तपात और नर-हत्या को बुरा समझती थी। उसने अंग्रेजों को एक पत्र लिखकर कहा, "आप लोग फ्रांस को छोड़ करके चले जाइएगा। मैं ईश्वर के आदेश से स्वदेश-रक्षा के पुनीत कार्य में प्रवृत्त हुई हूं। यदि आप न गये तो आपको इसका परिणाम भोगना पड़ेगा।" अंग्रेज-शिविर में जब यह पत्र पढ़ा गया तो उनमें बड़ी उत्तेजना फैल गई। उन्होंने पत्र-वाहक के साथ बड़ा ही बुरा व्यवहार किया और उसे जेल में बन्द कर दिया। जोन बड़ी दुखी हुई। उसने स्वयं दुर्ग के शिखर पर चढ़कर अपना यह प्रस्ताव अंग्रेजों को सुनाया। किन्तु कोई परिणाम न निकला। इस घटना से युद्ध अनिवार्य होगया। एक दिन जोन को यह खबर मिली कि अंग्रेजों की एक नई कुमुक आने वाली है। उसने सेनापति डूनियस से कह दिया कि उसके आते ही खबर दी जाय और वह थकी होने के कारण सो गई।

डूनियस ने सेन्टलुप किले पर आक्रमण किया। इधर जब जोन जगी तो उसने नौकर से कहा—"अस्त्र-शस्त्र जल्दी लाओ। युद्ध-क्षेत्र में मेरा जाना अनिवार्य है। इतने में ही नगर के तोरण-द्वार पर कोलाहल सुनाई दिया। वह घोडे पर सवार होकर उधर की ओर चलदी। उसने देखा अंग्रेज प्रबल पराक्रम से युद्ध कर रहे हैं और फ्रांसीसी भागे जारहे हैं। उसने भागे हुए सैनिकों को एकत्र किया और उत्साहित करके हमला करने के लिए ललकारा। वह स्वयं सेना का परिचालन करने लगी। अंग्रेज पराजित होगए और दुर्ग पर फ्रांसीसी सेना ने अधिकार कर लिया। फ्रांसीसी सेना में बल का संचार हो ही चुका था—दूसरे दिन जब अंग्रेजों के दूसरे दुर्ग पर आक्रमण किया गया तो अंग्रेजों की ओर से प्रबल प्रतिरोध होनेपर भी फ्रांसीसी युद्ध-क्षेत्र में डटे रहे। घोर संग्राम हुआ। किले में प्रवेश करने की इच्छा से वह किले की दीवार पर चढ़ गई। इसी समय एक तीर आकर उसकी गरदन में लगा। वह बेहोश होकर किले की खाई में गिर गई। अंग्रेज उसे पकड़ने दौड़े, किन्तु फ्रांसीसियों ने उन्हें आगे न बढ़ने दिया। जख्म पर दवा लगाकर उसने ईश्वरोपासना की और फिर युद्ध में जुट पड़ी। डूनियस ने रणक्षेत्र से चले जाने की सलाह दी, किन्तु जोन ने इस कापुरुषोचित सलाह को न सुना। उसने दूने उत्साह से अंग्रेजों पर हमला किया और उन्हें पराजित कर दिया। अंग्रेज सेनापति ग्लेस्डेल ज्योंही अपनी सेना के साथ लोयर नदी के पुल से भाग रहा था त्योंही गोला लगने से पुल टूट गया और सेनापति सेना के साथ नदी में गिर कर मर गया। यह दृश्य देखकर कोमल हृदया जोन अपने आंसू न रोक सकी। निराश होकर अंग्रेजों ने आरलिंस नगर छोड़ दिया। इस प्रकार जोन ने आरलिंस का उद्धार किया। नगरवासियों ने आनन्द-विभोर होकर जोन को हार्दिक धन्यवाद दिया। किन्तु जोन ने इसे ईश्वर की कृपा का फल ही बताया। सामूहिक प्रार्थना का आयोजन किया गया। लोग बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित हुए और फिर बड़ा जुलूस निकाला गया।

राज्याभिषेक

व्यर्थ समय नष्ट न करके वह ट्रूस नगर को गई। सम्राट डफिन इसी नगर में थे। सम्राट ने जोन की अभ्यर्थना की। जोन ने सम्राट से रीम्स नगर में जाकर राजपद पर अभिषिक्त होने के लिए अनुरोध किया, किन्तु उसने उसकी वीरता का प्रमाण पाकर भी अस्वीकार कर दिया। जोन के बहुत अनुनय-विनय करने पर उसका मत बदला। उसने एक सेना जोन की सहायता के लिए दी। जोन ने इस सेना से जार्गो नामक स्थान पर आक्रमण किया। अंग्रेजों ने बड़ी वीरता से सामना किया, किन्तु उन्हें हारना पड़ा। जोन ने आगे बढ़कर वर्गसी के किले पर भी अपनी विजय-पताका फहरादी। अब 'पेटे' नामक स्थान पर दोनों दलों में भीषण संघर्ष हुआ। अंग्रेजों के अच्छे सेनापति भाग खड़े हुए और विजय-लक्ष्मी फ्रांसीसियों को ही मिली। पेटे के युद्ध के एक मास बाद ही डफिन के राज्याभिषेक का आयोजन किया गया। किंतु रीम्स उस समय शत्रुओं के अधिकार में था। जोन की वीरता की बात सारे देश में फैल गई थी। अतः रास्ते में जो स्थान पड़ते थे सबने उसका अधिकार मान लिया और १६ जुलाई १४२६ ई० को डफिन सदल-बल रीम्स नगर पहुंच गया। दूसरे ही दिन रीम्स के प्राचीन धर्म-मन्दिर में बड़ी धूम-धाम से उसका राज्याभिषेक हुआ। उसका नाम सप्तम चार्ल्स रखा गया।

पराजय में

जोन का यश चारों ओर फैल गया था। राजा और सेना दोनों ही उस पर भक्ति रखने लगे थे। जोन ने जो व्रत लिया था वह राज्याभिषेक के साथ पूरा होगया। उसने अब यह इच्छा प्रकट की कि उसे अपने माता-पिता के साथ अपने गांव में रहने की अनुमति दी जाय, किंतु राजा ने उसके इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। वह जानता था कि जोन की अनुपस्थिति में सेना अनुत्साहित एवं शिथिल होजायगी। वह पेरिस पर आक्रमण करके वहां से भी अंग्रेजों को निकालना चाहता था। जोन के बहुत प्रार्थना करने पर भी उसने इजाजत न दी। अनिच्छा होते हुए भी

उसे युद्ध में जाना पड़ा। ८ सितम्बर सन १४२६ ई० को जोन ने आक्रमण किया। यह ईसाइयों का पर्व दिन था किंतु राजा की आज्ञा होने के कारण अनिच्छा होते हुए भी वह गई। अंग्रेजों ने यहां अच्छी तैयारी कर रखी थी। युद्ध हुआ। अधिकांश सैनिक भाग खड़े हुए। जोन ने प्राण दे देना ही उचित समझा, किंतु फ्रांसीसी सेनापति उसे बलपूर्वक युद्धक्षेत्र से हटा लेगया। इस पराजय से उसे बड़ा दुःख हुआ। वह जाड़े भर वर्गेस नगर में रही। वसंत ऋतु में कम्पियन नगर के उद्धार के लिए उसने युद्ध यात्रा की। नगर में प्रवेश करके लड़ाई शुरू की। जोन के सैनिक शत्रु के आक्रमण को सहन न कर सके और भाग खड़े हुए। जोन ने भागे हुए सैनिकों को बुलाकर फिर सामना किया किंतु अब सेना फिर भाग खड़ी हुई। उसने फिर सैनिकों को उत्साहित करके आक्रमण किया किंतु अब विजय की आशा न देखकर युद्धक्षेत्र छोड़ देने की आज्ञा दे दी। सैनिक भाग गए। जोन भी कई एक शरीर-रक्षकों के साथ छोड़ने हो वाली थी कि सहसा शत्रु-सेना ने उसको घेर लिया। युद्ध हुआ। एक सैनिक ने उसे घोड़े पर से खींचकर गिरा दिया। वह उठ खड़ी हुई और अस्त्र चलाने लगी। शत्रुदल टूट पड़ा। आत्म-रक्षा संभव न देख कर उसने शत्रुपक्ष को सहायता देने वाले एक देशद्रोही फ्रांसीसी के हाथ आत्म-समर्पण कर दिया। इस देशद्रोही ने उसे कौंट लिग्नि के हाथ में सौंप दिया।

बन्दीगृह में

जोन बंदी बना ली गई। जेल में उसे कई प्रकार के कष्ट दिये गए। एक वर्ष तक बंदीगृह में रखने के बाद उसका विचार प्रारंभ हुआ। उसके साथ जो कपट-पूर्ण दुर्व्यवहार किये गए वे अत्यंत ही निंदनीय थे। बंदी होते ही वह काउण्ट लिग्नि की देख-रेख में रखी गई। उसने अंग्रेजों को खुश करने के लिये लक्सेमबर्ग के राजा को जोन के समर्पण करने का विचार किया। उसकी पत्नी ने उसे इस नीच कार्य से रोकने के लिए बहुत प्रार्थना की, किंतु उसने न माना और

ड्यूक आफलक्सेमवर्ग के हाथ जोन को समपर्ण कर दिया। उस सहृदय अंग्रेज ने जोन के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं किया। वह जोन को व्यूरेवर नगर के महल में ले गया। वहां महिलाओं ने उसके साथ बड़ा सम्मान-पूर्ण व्यवहार किया। उनके अनुरोध से उसने सैनिकवेश परित्याग करके महिला के से वस्त्र धारण कर लिये। कुछ समय तक इसी प्रकार रहने के बाद उसका हृदय स्वदेशवासियों के लिए चंचल हो गया। उसने महल की दीवार फांद कर भागने की चेष्टा की किंतु जमीन पर गिरने और चोट लगने के कारण यह चेष्टा व्यर्थ गई। वह फिर महल में लाई गई। सेवा-सुश्रुषा से ठीक होने पर उसे ड्यूक आफ वर्गंडी के पास भेज दिया गया। अब वह कारागृह में रखी गई। उसे साधारण वन्दियों की भांति हथकड़ी वेड़ी डाले हुए रीम्स के राजपथ से ले जाया गया। उसे अशिक्षित और चरित्रहीन सैनिकों के अधीन रहना पड़ रहा था। अतः उसने फिर पुरुषोचित वस्त्र पहनना आरंभ कर दिया। प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहास लेखक टर्नर ने उस समय वंदीगृह में जोन की जो अवस्था हो रही थी उसका दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि उसके दोनों पैर लोहे की मजबूत जंजीरों से बंधे हुए थे। एक जंजीर से उसका दुर्वल शरीर इस प्रकार बीचोंवीच में बंधा हुआ था कि वह हिल डुल न सके। उसके लिए एक लोहे का पींजरा बनाया गया था जिसमें उसके हाथ-पैर गर्दन सब वंधे रहते थे। जब जोन इस प्रकार के कष्ट भोग रही थी, चार्ल्स निकम्मेपन से दिन विता रहा था।

प्राणदण्ड

इधर तो जोन कारागृह के कष्ट सहन कर रही थी उधर शत्रु लोग उसके नाश के लिए उपाय ढूंढ़ रहे थे। जोन के विचार का भार वोवेय नगर के धर्माध्यक्ष कचन और पवित्र धर्मशासन के प्रतिनिधि को सौंपा गया। वह जोन को प्राणदण्ड देना चाहते थे, किंतु दें किस आधार पर? उसके जन्म-स्थान तथा अन्य स्थानों पर उसके विरुद्ध बातें जानने एवं गवाह लाने के लिए जासूस भेजे गए, किंतु जब उन्होंने

वहां जाकर उसके सम्बंध में पूछा तो लोगों ने सब जगह उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। कोई-कोई तो उसके सद्गुणों का वर्णन करते-करते रोने लगते। ६ जनवरी, १४३१ को विचार प्रारम्भ हुआ। कचन और धर्म-शासन के प्रतिनिधि गण विचारासन पर बैठे। कचन ने जितने प्रमाण उसके विरुद्ध ढूंढ़े थे वह उसे प्राणदण्ड देने के लिए पर्याप्त नहीं समझे गए। कचन ने अपने मेल के आदमियों को इस विचार-कार्य में सहायता देने के लिए बुलाया और मतभेद रखने वालों को हटा दिया। इस प्रकार कण्टकों के दूर हो जाने पर २१ फरवरी को जोन फिर विचारालय में बुलाई गई। उससे अनेक प्रश्न किये गए। उसने निर्भीकता पूर्वक उत्तर दिये। ३-४ दिन तक कार्रवाई होती रही। अनेक प्रश्न करके भी वह उसे अपराधी सिद्ध न कर सके। विचारकों में मतभेद हो गया। दो धर्म-याजकों ने जोन का पक्ष लिया। उन्होंने कारागार में जाकर जोन को सुझाया कि वह पेशी होने के पहले पोप के पास यथा विधि विचार के लिए प्रार्थना करे। जोन ने ऐसा ही किया। कचन यह सुनकर बड़ा बिगड़ा और पूछा कि जोन को यह सलाह किसने दी। पता लगने पर उन दो धर्म-याजकों ने डर कर विचारालय में आना बंद कर दिया। अब तो सुविचार की थोड़ी भी आशा नहीं रही।

ईस्टर के पूर्व-सप्ताह में वह बीमार हो गई। इस सप्ताह के रविवार को धर्म-मंदिर में जाने के लिए उसके प्राण बहुत तड़फड़ाये किंतु वह अंधकार-पूर्ण बंदीगृह सोमवार को भी न खुला। मंगलवार को वह विचारालय में लाई गई। उससे उसकी पुरुषोचित वेश-भूषा के संबंध में कई प्रश्न किये गए। इन दिनों वह बहुत बीमार हो गई थी। बड़ी कठिनाई से किसी तरह उसके प्राण बचे। उसे यह कहा गया कि वह धर्मद्वेषिणी होना स्वीकार कर ले तो उसे छोड़ दिया जायगा। यह कहलाने के लिए उसे अनेक भय तथा प्रलोभन दिखाये गए। वे चाहते थे कि उसे स्वयं ही धर्म-द्वेषिणी कहला कर प्राणदण्ड के योग्य सिद्ध कर दें। किंतु जोन ने सदा यही कहा :— "यदि मुझे अग्नि-कुण्ड में फेंक

दोगे तो भी जो कुछ कह चुकी हूं उसी पर दृढ़ रहूंगी।" अंत में २६ मई को कचन ने यह घोषणा की कि धर्म-द्वेषिता के अपराध में जोन को जीवित ही अग्नि-कुण्ड में जला दिया जायगा। रायन नगर के एक पुराने बाजार में स्थान निश्चित हुआ। मंच पर कचन और अन्य धर्म-याजकगण बैठे। सामने चिता बनाई गई। जोन इस चिता पर खड़ी की गई। उसका सारा शरीर जंजीरों से जकड़ा हुआ था। जोन ने घुटने टेक कर कुछ देर तक प्रार्थना की। फिर उसने उपस्थित जनता से कहा :— "आप लोग मेरी आत्मा के कल्याण के लिए ईश्वर से प्रार्थना कीजिये।" ये शब्द उसने ऐसे आवेग से कहे थे कि शत्रु भी आंसू न रोक सके। स्वयं कचन के नेत्रों से आंसू की बूंदें टपक पड़ीं। उसने आंसू पोंछ कर दण्डाज्ञा सुनाई :—

"तुमने शैतान द्वारा प्रेरित होकर अपकर्म किया है। इसलिए हम तुमको स्वधर्म-त्यागिनी समझ कर प्राणदण्ड की आज्ञा देते हैं।"

वीर बालिका ने अपने को भगवान पर छोड़ दिया और एक क्रूस-दण्ड मांगा। एक अंग्रेज ने अपने हाथ की छड़ी से क्रूस बनाकर उसे दे दिया। जोन उसे भक्ति-पूर्वक हृदय में धारण करके मरने के लिए तैयार हो गई। आग लगा दी गई। उसने अंतिम समय में कहा :— "निश्चय ही मुझे धोखा नहीं हुआ, जो वाणी मैंने सुनी थी वह निश्चय ही भगद्वाणी थी।" थोड़ी ही देर में अनल-शिखाओं ने उसके पवित्र शरीर को भस्मी-भूत कर दिया।

श्रद्धांजली

इस तपस्विनी वीरांगना ने जन्मभूमि को 'स्वर्गादपि गरीयसी' समझ कर पूजा की। उसने स्वजाति को प्राणों से भी अधिक प्रेम किया और स्वाधीनता-देवी के मंदिर में हंसते-हंसते आत्म-बलिदान किया। विधाता के इंगित से उसने जो महाव्रत धारण किया था उसे सब भोग-वासना छोड़ कर तथा अंत में अपने प्राण देकर पूरा कर दिया। आरलिंस नगर को दासत्व-शृङ्खला से मुक्त करना तथा सम्राट को राजसिंहासन पर प्रति-

ष्ठित करवाकर स्वाधीनता के पथ को सरल कर देना उसके ही अनुरूप कार्य था। उसकी चिता-भस्म नदी में फेंक दी गई। उसके पवित्र स्मशान-क्षेत्र की भस्म-राशि की पुण्य-स्मृति का अंतिम चिन्ह भी उन्होंने न रहने दिया। किंतु क्या चिता भस्म के बहा देने से उसकी स्मृति बहा दी जा सकती है? २६ वर्ष बाद ही रायन के जिस धर्म-मंदिर में बैठ कर शत्रुओं ने उसे प्राण-दण्ड के योग्य घोषित किया था वहीं फ्रांस के प्रसिद्ध धर्मयाचकों ने मिलकर उनके फैसले को न्याय-विरुद्ध सिद्ध किया। जोन को 'साधु' की पदवी प्रदान की गई। उसका अन्य स्मारक बनाया गया और आज भी फ्रांस के सशस्त्र सैनिक उस स्थान से आते जाते हुए उस दिवंगत आत्मा का अभिनंदन करते हैं।

: ८ :

ग्विसेप गेरीबाल्दी

भारतीय इतिहास में मेवाड़ी वीरों का स्वातंत्र्य-युद्ध स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। इनके ऊपर मुसीबतों के पहाड़ टूटे, प्रियजनों के वियोग की गाज गिरी और निरंतर दुर्दैव की अग्निवर्षा हुई किंतु यह हिमालय की भांति अटल रहे। इन्होंने स्वतंत्रता के यज्ञ में हँसते-हँसते अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया। विचलित होना उन्होंने जाना ही नहीं था, नतमस्तक होना तो दूर। इटली का उद्धारक ग्विसेप गेरीबाल्दी भी स्वतंत्रता के ऐसे हीं दीवानों में से था।

जन्म और बाल्यकाल

गेरीबाल्दी का जन्म १८०७ ई० में नीस नगर में हुआ। उसका पिता एक साधारण नाविक था। गरीबी के कारण ये लोग बड़े कष्ट से जीवन बिता रहे थे। गरीबी अभिशाप भी है और वरदान भी। वह मनुष्य को पतन के गर्त में ढकेल सकती है तो उसे उत्थान के शिखरों पर भी चढ़ा सकती है। किंतु अधिकांश में वह अभिशाप ही सिद्ध हुई है। उसने कितनों को पथ भ्रष्ट कर दिया। परंतु गेरीबाल्दी के माता-पिता उन व्यक्तियों में से नहीं थे जो गरीबी के कारण पथ-भ्रष्ट होजाते हैं। उन्होंने उसे वरदान माना और सदैव धर्म का अनुसरण किया। उसकी मां जब किसी गरीब को देखती तो सहानुभूति से द्रवित होजाती थी। माता के इन्हीं सद्‌गुणों ने उसके हृदय में देश-प्रेम का बीज बो दिया। वह बचपन से ही बड़ा निर्भीक और साहसी था। कभी किसी से बंदूक मांग कर शिकार खेलने चला जाता और कभी नावों में घूम आता था। अपनी टोली का वह नेता था, खेल-कूद में सबसे आगे रहता था। जब

किसी विषय पर निर्णय करना होता था तो वही निर्णायक भी चुना जाता था। पढ़ने लिखने में भी वह सबसे आगे रहता था। जब किसी पुस्तक में उसका मन लग जाता तो घंटों तक उसे पढ़ा करता था। वह इतना साहसी और वीर था कि आठ वर्ष की आयु में ही जब उसने एक स्त्री को नदी में डूबते देखा तो कूद कर उसे निकाल लाया। इस घटना के कुछ समय बाद जब वह अपने साथियों के साथ नौका-विहार कर रहा था तो अचानक जोर का तूफान आया। साथी घबराने लगे और नाव भी शायद जल निमग्न होजाती। किंतु वह पानी में कूद पड़ा और नाव को सकुशल किनारे पर लेआया। उसके जीवन की ऐसी अनेकों कहानियां लोगों की जबान पर हैं। उसके इन्हीं गुणों ने उसे आगे चलकर इटली का कर्णधार बना दिया।

पादरियों से घृणा

वह बड़ा ही कुशाग्र-बुद्धि था। उसे अच्छी शिक्षा दिलाने का पूरा प्रयत्न किया गया। उसके माता-पिता चाहते थे कि वह धर्म-प्रचारक (पादरी) बने किंतु उसे नौ सैनिक और नाविक-जीवन की धुन सवार थी, बल्कि एक घटना ने तो उसके ऊपर ऐसा प्रभाव डाला कि वह पादरियों को घृणा की दृष्टि से देखने लगा। जब वह लगभग १५ वर्ष का था तो उसके हृदय में पर्यटन की इच्छा प्रबल होने लगी। उसने अपने साथियों से जिनोआ चलने का प्रस्ताव किया और वे एक नाव में कुछ आवश्यक सामान लेकर चल पड़े। वे कुछ ही दूर गए होंगे कि एक पादरी ने उनके भागने की सूचना उसके पिता को दे दी। पिता एक तेज नाव लेकर चला और इन लोगों को वापस पकड़ लाया। जब गेरीबाल्दी को यह मालूम हुआ कि पादरी ने उनका पता दिया था तो उसे इतना क्रोध आया कि वह जीवन भर पादरियों को घृणा की दृष्टि से देखता रहा। पिता ने उसकी यह प्रवृत्ति देखकर उसे सार्डिनिया की जल सेना में नौकरी करने की अनुमति देदी। अब उसने कई यात्राएं कीं जिससे उसका ज्ञान बढ़ता गया और उसे कष्ट-सहिष्णुता, दृढ़ता आदि की उपयोगी शिक्षाएं मिलती गईं।

"तरुण-इटली का विद्रोह"

इटली की अवस्था इस समय बड़ी ही शोचनीय थी। उत्तरी भाग आस्ट्रिया के अत्याचारों का शिकार होरहा था; मध्य देश में पोप का अंधेर फैला हुआ था और पश्चिम में पेडमाएट का शासक जुल्म कर रहा था। इस संकटमय स्थिति का इटली के नवयुवकों पर प्रभाव पड़े बिना न रहा और वे इस दमन और अत्याचार से मुक्ति पाने के लिए विकल हो उटे। वे चाहते थे कि इटली को विदेशियों के बंधन से मुक्त करके संसारके अन्य प्रगतिशील राष्ट्रोंके समकक्ष बनादें। केवल शिक्षित ही नहीं बल्कि अशिक्षित जनता भी उत्साह से भरी हुई थी। युवकों ने तरुण इटली नामक एक संस्था की स्थापना की जिसका प्राण मेज़िनी था। १८३२ ई० में इस संस्था ने निश्चय किया कि देश में विप्लव किया जाय और उसका आरम्भ पेडमाएट से हो। गेरीबाल्दी ने जब यह सारी बातें सुनी तो वह खुशी से उछल पड़ा। यह संस्था वही कर रही थी जो कि वह चाहता था। अतः उसने तुरंत सेना की नौकरी से त्याग पत्र दे दिया और मेजिनी की सहायता के लिए जा पहुंचा। किंतु पूरी तैयारी भी नहीं हो पाई थी भण्डा फूट गया। मेजिनी तो गिरफ्तार कर लिया गया। किंतु गेरीबाल्दी बड़ी होशियारी से निकल भागा। वह किसान के वेश में जिनोआ से नीस और नीस से फ्रांस चला गया। मार्सेल्स में उसने एक समाचार पत्र में पढ़ा कि उसे गोलियों से उड़ा देने की सजा की घोषणा करदी गई है। इस बात से उसे दुःख होने के बजाय प्रसन्नता हुई कि उसका नाम समाचार-पत्र में प्रकाशित हुआ। लेकिन सरकार की निगाह में वह एक भयंकर क्रांतिकारी बन चुका था। उसे पकड़ने के लिए गुप्तचर भेजे गये और पुरस्कार घोषित किया गया। अतएव उसने अपना नाम बदल दिया और दो साल तक इधर-उधर छिपता रहा।

दक्षिणी अमेरिका में

१८३६ ई० में उसने अमेरिका को प्रस्थान किया। वहां उसने

शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाने वाले निवासियों के साथ बड़ी सहानुभूति दिखाई। एक दिन जब उसने विद्रोहियों का साथ देने वाले इटालियन लोगों को हथकड़ी-बेड़ी पहिने देखा तो उसके क्रोध की सीमा न रही और प्रतिशोध की ज्वाला से उसका हृदय धधक उठा। वह छोटी-छोटी टुकड़ियां लेकर वर्षों तक जंगलों में लड़ता रहा। यहां आकर उसने अपना विवाह भी कर लिया था। उसकी पत्नी अनीता ने हर कार्य में उसका पूरा साथ दिया। इन दिनों उसने बड़े कष्ट उठाये। उसे सोने तक के लिए समय नहीं मिलता था, किंतु फिर भी वह बहादुरी से लड़ता रहा।

इटली लौटना

इधर इटली में यद्यपि 'तरुण इटली' के अधिकांश सदस्य निर्वासित थे किंतु गुप्त रूप से उनके विचारों का प्रसार होरहा था। १८४८ ई० में यह जोश बहुत बढ़ गया और कई नगरों में जनता ने आजादी का आंदोलन छेड़ दिया। मिलान और जिनोआ में आस्ट्रिया की सेना हार गई। इधर पेडमाण्ट के शासक और पोप ने अपना दमन कम कर दिया पेडमाण्ट के शासक ने तो इस भय से कि कहीं प्रजा उपद्रव न करने लगे विद्रोहियों की गुप्त रीति से मदद भी करना आरम्भ कर दिया। जब ये खबरें अमेरिका पहुंची तो गेरीबाल्दी का हृदय स्वदेश लौट आने के लिए आकुल हो उठा। और वह अपने छप्पन साथियों को लेकर स्वदेश के लिए रवाना होगया। नीस के समुद्र-तट पर उसका स्वागत करने के लिए विशाल जन-समूह इकट्ठा होगया था। गेरीबाल्दी को यह जान कर प्रसन्नता हुई कि जनता में सच्चे स्वातंत्र्य-प्रेम की भावना जागृत हो गई है।

युद्ध-संचालन

इटली लौटकर गेरीबाल्दी ने पोप के दरबार में नौकरी की दरखास्त दी, किंतु वहां के ढंग देखकर उसे निराश होना पड़ा। फिर उसने पेडमांट के शासक को अपनी सेवाएं समर्पित कीं, किंतु यहां भी उसे निराश

होना पड़ा। इसी बीच जल-विप्लव से डरकर पोप रोम से भाग गया। उसके भागने के समाचार सुनते ही निर्वासित देशभक्तों के दल रोम आ गये। और वहां एक अस्थायी सरकार की स्थापना हुई। वीर देशभक्तों ने बड़े उत्साह से रोमन प्रजातंत्र की घोषणा की और मेजिनी के अधिनायकत्व में तीन नेताओं के हाथ में शासन की बागडोर सौंप दी गई। इन तीनों में गेरीबाल्दी भी था। गेरीबाल्दी ने सैनिकों के एक दल के साथ उत्तर की ओर प्रस्थान किया। और वहां अदम्य साहस और वीरता का परिचय दिया। निरंतर सफलताओं के कारण उसका यश चारों ओर फैल गया। शत्रु को सामने पाते ही वह उस पर टूट पड़ता था और यह नहीं देखता था कि शत्रुओं की संख्या अधिक है और उसके सैनिकों की कम। उसका आक्रमण इतना भयंकर होता था कि बड़ी-बड़ी सेनाओं के भी छक्के छूट जाते थे। कितनी ही बार उसने अपने अनुभव-हीन सैनिकों की सहायता से सुसज्जित सेनाओं को परास्त कर दिया।

सेना का आत्म-समर्पण

युद्ध के अंतिम दिनों में उसकी इच्छा थी कि वीर गति प्राप्त करे। उसके सारे साथी एक-एक कर मरते जारहे थे और वह जीवित था, यही उसके दुःख का कारण था। वह इसी विचार से लड़ता रहा। किंतु उसका बाल भी बांका नहीं हुआ। एक दिन उसे समाचार मिला कि परिषद् की बैठक हो रही है, जिसमें उसकी उपस्थिति अनिवार्य है। वह धूल और रक्त से सना हुआ परिषद् में पहुंचा। परिषद् के सामने रोम के नये प्रजातंत्र के भाग्य-निर्णय का प्रश्न था। फ्रांसीसी सेना नगर के द्वार पर डटी हुई थी। गेरीबाल्दी ने आत्म-समर्पण का विरोध किया और भाग कर पहाड़ों में आश्रय लेने की सलाह दी। परंतु उसके लौट जाने पर उसकी अनुपस्थिति में आत्म-समर्पण के पक्ष में निर्णय होगया। मेजिनी ने इसका बहुत विरोध किया और रोम छोड़ कर वह स्वीज़रलैण्ड चला गया। गेरीबाल्दी ने जब यह निर्णय सुना तो उसे बहुत दुःख हुआ। उसने शीघ्र ही अपनी सेना को एकत्र किया और बड़े ही मार्मिक शब्दों

में उनके सामने पहाड़ों में भाग जाने का प्रस्ताव रखा। पांच हजार सैनिकों ने उसका प्रस्ताव स्वीकार किया और उसकी आज्ञानुसार कार्य करने की प्रतिज्ञा की।

भीषण यात्रा और पत्नी का प्राणोत्सर्ग

तुरंत ही सारी सेना पहाड़ों के लिए चल पड़ी। गेरीबाल्दी की पत्नी भी पुरुष भेष में उसके साथ थी। शत्रुओं की सेनाएं इनका पीछा कर रही थीं परंतु ये भूख-प्यास किसी की परवा न करते हुए आगे बढ़े चले जा रहे थे। कितने ही सैनिकों ने मार्ग में प्राण दे दिये और कितने ही ने कष्ट न सहन कर सकने के कारण आत्म-समर्पण कर दिया।

आस्ट्रियन सेनापति ने गेरीबाल्दी के पास खबर भेजी कि यदि वह आत्म-समर्पण कर दे तो उसे अमेरिका जाने की छूट दे दी जायगी। गेरीबाल्दी ने गुस्से में इस पत्र के टुकड़े-टुकड़े कर दिये परंतु उसने अपने साथियों को प्रतिज्ञा से मुक्त करके उन्हें अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता देदी। इस पर लगभग ६०० सैनिकों ने शत्रु को आत्म-समर्पण कर दिया। गेरीबाल्दी अपने चुने हुए २०० सैनिकों के साथ शत्रु की सेना को चीरता फाड़ता समुद्र के किनारे पहुंच गया। यहां उसके सैनिकों ने कुछ नावों पर अधिकार कर लिया और उसमें चढ़ कर वे लोग वेनिस की ओर चले। आस्ट्रियन बेड़े ने उनका पीछा करके १३ नावों को पकड़ लिया। केवल दो नाव बचीं जिनमें गेरीबाल्दी उसकी पत्नी तथा कुछ सैनिक थे। बीमारी के कारण अनीता इतनी दुर्बल होगई थी कि उसमें चलने की शक्ति नहीं रही थी। गेरीबाल्दी उसे अपनी गोद में लेकर एक टापू के किनारे उतरा। परन्तु वहां भी दुर्भाग्य ने उसका साथ नहीं छोड़ा। शिकार खेलती हुई आस्ट्रियन नावें वहां आगईं और देखते ही देखते सारा समुद्र-तट भर गया। ये लोग छिपने लगे किंतु नौ व्यक्ति पकड़ लिए गये जिन्हें गोलियों से उड़ा कर वहीं कब्रों में गाड़ दिया गया। अनीता को लिये हुए गेरीबाल्दी अपने विश्वस्त साथी कप्तान लेगिओरो के साथ भागा। लेगिओरो के पैर में गोली लगी हुई

थी किंतु फिर भी वह लंगड़ाते हुए भागा जा रहा था। सौभाग्य से एक दयालु किसान ने अपनी झोंपड़ी में इन्हें आश्रय दिया। रात्रि में इन्हें एक सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दिया गया। अनीता प्यास से व्याकुल हो रही थी, किंतु यहां समुद्र के खारे जल के अतिरिक्त क्या मिल सकता था? उसे लिए हुए वे एक निर्जन मकान के पास पहुँचे परंतु यहां लिटाते ही उसने सदा के लिए आंखें बंद करलीं। पत्नी का यह करुण अवसान गेरी-बाल्दी अंत समय तक नहीं भूल सका।

प्रवास

इस भाग-दौड़ में अपनी पत्नी को दफनाने का भी समय गेरीबाल्दी के पास नहीं था। यह काम वहांके किसानों के सुपुर्द करके वह वेनिस, जिनोआ और जिब्राल्टर होता हुआ लिवरपुल पहुंचा परंतु उसे अपनी अभीष्ट सिद्धि का उपाय कहीं नहीं दिखाई दिया। अन्त में उसने अमेरिका जाने का निश्चय किया। वहां पहुँच कर उसने एक जहाज पर नौकरी करली। कुछ वर्ष बाद वह इंग्लैंड के न्यूकैसल बन्दरगाह पर आया। यहां जनता ने उसका बड़ा ही शानदार स्वागत किया और उसे एक तलवार भेंट की।

सिसली पर आक्रमण

प्रवास में गेरीबाल्दी ने जो धन एकत्र किया था उससे उसने कचरेरा नामक द्वीप खरीद लिया और वहीं बसकर खेती करने लगा। यहाँ उसके पास देशभक्तों ने सिसली में आकर सहायता करने का निमंत्रण भेजा। गेरीबाल्दी तुरंत हजार साथियों को लेकर जहाज में चल पड़ा। सिसली के मारसला नामक बन्दरगाह पर जनता ने बड़े उत्साह से इनका स्वागत किया। स्थान-स्थान से लोग आकर गेरीबाल्दी की सेना में भर्ती होने लगे। और देखते ही देखते बारह हजार सिपाही उसके नेतृत्व में लड़ने-मरने को जमा होगए। यह राष्ट्रीय सेना सिसली की राजधानी पलेरमों की ओर बढ़ी। यहां पर डेढ़ लाख नियोपोलिटन सेना उसका सामना करने के लिए पड़ी हुई थी। शत्रु सेना की विशालता देखकर गेरीबाल्दी के कुछ सैनिकों की हिम्मत छूटने लगी। अतः उसने बड़े ही

जोशीले शब्दों में उन्हें उत्साहित किया और मर-मिटने के लिए तैयार कर दिया। तीन दिन तक घमासान युद्ध हुआ, किंतु प्राणोत्सर्ग करने-वाले देशभक्तों के सामने भाड़े के टट्टू कब तक टिक सकते थे? उनके पैर उखड़ गए और फ्लेरमो गेरीबाल्दी के अधिकार में आगया। इस असाधारण विजय के फल-स्वरूप एक के बाद दूसरा नगर उसके आधीन होता गया और अन्त में सारे द्वीप पर गेरीबाल्दी का अधिकार होगया।

पेडमोन्ट की स्वतन्त्रता

सिसली को विदेशियों के चंगुल से छुड़ाकर गेरीबाल्दी अपनी सेना सहित इटली के दक्षिणी समुद्रतट पर जा उतरा। यहां भी खबर पाते ही लोग आ-आकर उसके दल में सम्मिलित होने लगे। उसने नेपल्स में प्रवेश किया और सिसली तथा नेपल्स दोनों को पेडमाएट के राज्य में सम्मिलित कर दिया। इन महान सेवाओं के लिए उसे नई उपाधियां पेंशन तथा पुरस्कार प्रदान करने के प्रस्ताव रखे गए, किंतु उसने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। उसने पुरस्कार या पदवी के लोभ से कुछ किया ही नहीं था, फिर उन्हें लेकर क्या करता? अपना कर्तव्य-पालन करके उसे संतोष की जो अमूल्य निधि प्राप्त हुई उसकी तुलना में उपाधियों और पुरस्कारों का क्या मूल्य रह गया?

संयुक्त इटली के लिए प्रयत्न

इस विजय से लौटकर उसने दो वर्ष अपनी शांति कुटीर में व्यतीत किये। इस समय रोम पोप के और वेनिस आस्ट्रिया के आधीन थे। वह चाहता था कि यह भी स्वाधीन होजांय। उसने वहीं से बैठे-बैठे इनमें स्वाधीनता के भाव भरना आरम्भ किया और जब वे लोग तैयार होगए तो वह चुने हुए वीरों की एक सेना लेकर चल पड़ा। पेडमाएट के राजा विक्टर इमानुएल को यह बात बुरी लगी अतएव उसने गेरीबाल्दी को रोकने के लिए सेना भेजी। गेरीबाल्दी अपने ही देशवासियों से लड़ना नहीं चाहता था। इसलिए उसने युद्ध को बचाने का बहुत प्रयत्न किया परंतु अन्त में वह घिर ही गया। बहुत सम्भव था कि वह यहां से भी

साफ निकल जाता, किन्तु उसे कई गहरे घाव लगे जिनके कारण उसे विवश होकर घर लौटना पड़ा और महीनों तक बिस्तर पर पड़ा रहना पड़ा।

वेनिस की मुक्ति

१८६४ ई० में उसने इंग्लैंड की यात्रा की, जहां उसका बड़ी धूमधाम और ठाटबाट से स्वागत किया गया। कई मानपत्र और तलवारें भेट की गईं।

अब आस्ट्रिया और प्रशिया में युद्ध छिड़ चुका था। इसे अपनी उद्देश्य-सिद्धि का अच्छा अवसर जानकर वह जिनोआ आया और आस्ट्रिया के विरुद्ध विप्लव आरम्भ कर दिया। इस युद्ध में उसकी रान में जोर का घाव लगा परन्तु अच्छा होते ही वह फ्रांस पहुंचा और वहां से आक्रमण करने का प्रयत्न करने लगा। किन्तु यहां उसे फिर आस्ट्रिया की सेना से घमासान युद्ध करना पड़ा जिसमें उसकी विजय हुई। आस्ट्रिया ने संधि-चर्चा आरम्भ कर दी। इस प्रकार वेनिसवालों की भी इच्छा पूर्ण हुई और वह एक लम्बे समय के बाद संयुक्त इटली राष्ट्र के झण्डे के नीचे आगए।

अब केवल पोप का ही ऐसा राज्य था जहां राष्ट्रीय शासन नहीं था। गेरीबाल्दी को उस समय तक चैन कैसे मिलती जब तक कि वह सारे इटली को एक राष्ट्रीय शासन के अन्तर्गत न देख लेता। १८६७ ई० में उसने रोम पर चढ़ाई करने की तैयारियां कीं। इटली की सरकार ने कई बाधाएं डालीं। उसे कैद भी कर लिया, किन्तु अन्त में वह फ्लोरेंस जा पहुंचा। उसके आने की खबर पाते ही देशभक्तों का दल उसके साथ होगया और जब लड़ाई हुई तो विजयलक्ष्मी उसे ही मिली। इस प्रकार १८७१ ई० में संयुक्त इटली राष्ट्र की स्थापना पूरी तरह होगई और विक्टर इमेनुअल बादशाह बने तो गेरीबाल्दी की साध पूरी हुई।

अन्तिम समय

उसका उद्देश्य पूरा होचुका था। अतएव अब वह घर लौट आया और अपने कुटुम्ब के साथ जीवन के शेष दिन व्यतीत करने लगा।

परन्तु इस समय भी वह निश्चेष्ट नहीं था। वह इटली के शिल्प और उद्योग की उन्नति के विषय में सोचा करता था। १८७५ ई० में उसने रोम की यात्रा की। यहां जिस उत्साह और ठाटबाट से उसका स्वागत हुआ वैसा उदाहरण दुनिया के इतिहास में कठिनता से मिलेगा। जब वह वापिस आने लगा तो २० हजार आदमी राष्ट्रीय गीत गाते हुए उसे विदा करने आए। इसी एक दृश्य से उसके सन्मान और कार्य के महत्त्व का परिचय मिल जाता है। अपना शेष जीवन उसने कपरेरा में व्यतीत किया और यहीं पर १८८४ ई० में थोड़े दिन बीमार रहकर वह इस नश्वर संसार से विदा होगया।

अपने देश के लिए उसने जो त्याग किया वह संसार के इतिहास में अमर है। वह राष्ट्र का एक सच्चा सिपाही था। वह राष्ट्र के लिए जीवित रहा और राष्ट्र के लिए ही मरा। उसके कार्य का जीता जागता प्रमाण यही है कि उसने विभाजित और पददलित इटली को मुक्त करके एक राष्ट्र बना दिया।

: ९ :

अब्राहम लिंकन

"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्"

मन, वाणी और कर्म तीनों के साम्य से पूर्ण जीवन होता है। जिस व्यक्ति में इन तीनों की समानता है वही महापुरुष है। जीवन को आदर्श बनाने के लिए तीनों की आवश्यकता है। तीनों में से एक भी गुण दूसरे और तीसरे के विना अपूर्ण रहता है। कोरे विचार स्वप्न-दर्शिता है, कोरे वचन वाचालता या वंचना है और कोरा कर्म पागलपन है। जो व्यक्ति अच्छे विषयों का चिंतन और मनन करता है, वही बातें बोलता है और उसीके अनुसार कर्म करता है, वही महापुरुष है। वह जिस मार्ग पर जाता है वही दूसरों के लिए आदर्श बन जाता है। ऐसे महापुरुष तत्कालीन समाज के पथ-प्रदर्शक हो जाते हैं। अमेरिका के प्रेसीडेन्ट अब्राहम लिंकन भी ऐसे ही महापुरुष थे। अब्राहम लिंकन के जीवन का पूर्वार्ध ऐसी निर्धनता, कठिनाइयों एवं बाधाओं में व्यतीत हुआ कि उन्हें देखकर यह कल्पना ही नहीं होती थी कि वह भविष्य में इतना बड़ा आदमी हो जायगा। जीवन के पूर्वार्ध में उसे जो कुछ मिला था वह उन्नत जीवन बनाने में बाधक ही था; किन्तु उसमें सत्यप्रियता, शील और सदाचार के ऐसे बीज थे जो निरन्तर पल्लवित और पुष्पित होते गए। और अन्त में इन्हीं गुणों ने उसे महान व्यक्ति बना दिया।

जन्म और बाल्यकाल की कठिनाइयां

अब्राहम लिंकन का जन्म १८०७ ई० में उत्तर अमेरिका की केन्ट नामक रियासत में हुआ। उसका पिता टामस लिंकन निर्धन किंतु सदाचारी व्यक्ति था। उसका दाम्पत्य-जीवन सुखी और संतुष्ट था। निर्धनता और जीवन की विषमताएं कभी उनके प्रेम में बाधा न डाल सकीं। पति-पत्नी

दोनों ही ईश्वर में विश्वास रखते थे और धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे। धार्मिक ग्रन्थों को पढ़कर उनके अनुसार आचरण करना और वही बातें बालकों को पढ़ाना उनका स्वभाव-सा हो गया था। बालक अब्राहम लिंकन के अन्तःकरण में अपने माता-पिता की यह धार्मिक वृत्ति दृढ़ स्थान बनाती गई।

७ वर्ष की अवस्था तक अब्राहम इसी केन्ट-प्रान्त में रहा; किन्तु अब यहां निर्वाह न होने के कारण उसके पिता ने इस प्रान्त को छोड़कर इडियाना प्रान्त में जाने का निश्चय किया। एक नाव बनाई गई और उसमें सब सामान रखकर वह सकुटुम्ब रवाना हुए। बीच धारा में नाव डूबते-डूबते बची और वह बड़ी कठिनाई से इंडियाना पहुँचे। इंडियाना घने जगलों का प्रान्त था। एक झोंपड़ी बनाई गई और पति-पत्नी बच्चों के साथ रहने लगे। यहां भी उन्हें अपनी कठिनाइयों का हल नहीं मिला। फिर भी वह शान्ति और सन्तोष से दिन बिता रहे थे। दुर्भाग्य से उन्हें और भी बुरे दिन देखने थे। अब्राहम की माता क्षय-रोग से पीड़ित थी वह असमय में ही चल बसीं। ऐसे समय अब्राहम और उसके पिता पर क्या बीती होगी इसकी कल्पना से रोमांच हो जाता है। उनके शोक की सीमा न रही। पास में एक वृक्ष के नीचे उनका शव दफना दिया गया। यहां बैठकर शोकाकुल बालक अब्राहम अपनी माता के लिए घंटों रोया करता। माता के इस अवसान से मातृ-प्रेम निरंतर बढ़ता गया और बालक अब्राहम अपनी माता के सदाचरण और धार्मिकता की ओर अधिक आकर्षित होकर तदनुकूल अपने जीवन को बनाने का प्रयत्न करने लगा।

शिक्षा

उस समय केंट प्रांत में कोई सरकारी स्कूल नहीं था। वैसे ही गांव के कुछ उत्साही लोगों के प्रयत्न से छोटी-छोटी पाठशालाएं कुछ समय के लिए बन जाती थीं। साधारण पढ़ना-लिखना इन्हीं एक-दो पाठशालाओं में सीखकर अब्राहम को उन्हें छोड़ना पड़ा था। इंडियाना-

प्रांत में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं थी, किन्तु इससे उसके अध्ययन में कोई बाधा नहीं हुई। वह धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करने लगा और उनके उपदेशों के जीवन में उतारने का भी प्रयत्न करने लगा। उसने बड़े-बड़े आदमियों के जीवन-चरित्र तथा अन्य अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का अध्ययन आरंभ किया। आत्म-कल्याण और स्वदेश-हित संबंधी विचार उसके दिमाग़ में चक्कर काटने लगे। इस प्रकार अच्छे विषयों का चिन्तन और मनन होने लगा। परोपकार-भाव जाग्रत हुआ और जहांतक संभव होता वह दूसरों के हित के कार्य करके संतोष अनुभव करने लगा। वह दूसरों के पत्र लिख देता, पत्र पढ़ देता और अन्य कई प्रकार की सेवाएं कर देता था। पत्र लिखते-लिखते तो उसे अपने भावों को बड़ी कुशलता से व्यक्त करने की आदत हो गई। अपने आरंभिक काल में उसने जो कुछ अध्ययन किया और सदाचार तथा सत्य-प्रेम को जीवन में लाने का प्रयत्न किया वही आगे के जीवन में उसे महान् व्यक्ति बनाने में सहायक हुआ।

शील और सत्यप्रियता

पत्नी की मृत्यु हो जाने पर अब्राहम के पिता ने दूसरा विवाह किया। अब्राहम के सदाचरण का प्रभाव उसकी सौतेली मा पर ऐसा पड़ा कि उनमें कभी भी मन-मुटाव नहीं हुआ। वे पुत्र और माता की भांति ही रहने लगे। शीलवान व्यक्ति चाहे कैसी ही परिस्थिति और कैसे ही वातावरण में रहे वह सबको अपने अनुकूल बना लेता है। अब्राहम की सत्यप्रियता तो बड़ी ही प्रसिद्ध थी। उसकी सत्यप्रियता के कई उदाहरण मिलते हैं। एक समय अपने शिक्षक से वह वाशिंगटन का चरित्र पढ़ने के लिए लाया। रात को खिड़की के पास उसे रखकर वह सो गया। रात को वर्षा हुई और किताब पूरी तरह भीग कर खराब हो गई। प्रातःकाल उठकर जब अब्राहम ने उसे इस अवस्था में देखा तो उसे बड़ा दुःख हुआ। वह तुरंत पुस्तक लेकर अपने शिक्षक के पास गया और कहने लगा—"आपकी पुस्तक को इस प्रकार खराब करके मैंने बहुत बड़ी भूल

की है। आप मुझे इसके लिए क्षमा कीजिए। मेरे पास इतने पैसे नहीं हैं कि इस हानि को पूरा कर सकूं किन्तु इसके बदले में आपका कोई काम करने के लिए तैयार हूँ। यदि आप मुझसे कोई काम करा लेंगे तो बड़ा उपकार होगा।" अब्राहम की प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। उसे घास काटने का काम दिया गया। तीन दिन तक घास काटकर अब्राहम ने बड़ा संतोष अनुभव किया। इससे यह प्रकट होता है कि उसे किसीके ऋण में बंधे रहने से कितनी घृणा थी। बाल्यकाल ही में वह कितना सुशील, सत्य-प्रिय और सदाचारी था यह इन घटनाओं से स्पष्ट हो जाता है। उसकी दयालुता के तो कई उदाहरण मिलते हैं। किसीको भी कष्ट में देखकर वह स्वयं वैसा दुःख अनुभव करने लग जाता था और यथाशक्ति सहायता करके शान्ति और सन्तोष अनुभव करता था।

उद्योग

अब अब्राहम की अवस्था सत्रह-अठारह वर्ष की हो चुकी थी। दूसरों की सहायता करने में उसे जितना आनन्द मिलता था उससे भी अधिक अपने माता-पिता की सेवा और सहायता में मिलता था। अपने सदाचार और परिश्रम से वह उन्हें सदैव प्रसन्न रखता था। वह घर के कामों में माता की और खेती मजदूरी आदि के कामों में अपने पिता की सहायता करता था। शरीर में अब काम-काज करने की शक्ति भी बढ़ गई थी। उसका शरीर सुदृढ़ था और आचरण बहुत ही पवित्र। वह जो कुछ काम अपने हाथ में लेता था उसे अच्छी तरह पूरा करके ही छोड़ता था। उसकी ईमानदारी और उद्योग-प्रियता के कारण उसे काम भी बहुत मिल जाते थे। वह नियमित रूप से काम भी करता था और विद्याध्ययन भी। अतः उसकी शक्ति और बुद्धि दोनों का ही साथ-साथ विकास हो रहा था। आस-पास के लोग उसके आचरण से बहुत खुश थे। वे उस पर बड़ी ममता रखते थे और कहते थे कि उसके आचरण ईश्वर के आदर्श के समान हैं। अपनी ज्ञान-प्रियता से उसने कई ग्रन्थों का अवलोकन किया। और बिना किसी की सहायता के बहुत-सा ज्ञान उपार्जन कर डाला। उसकी

बातों पर सब विश्वास करते थे और सभी उसके आचार-विचार पर मुग्ध थे।

स्वावलम्बन

जब से वे उस प्रान्त में आये थे परिवार का कोई न कोई व्यक्ति बीमार रहा करता था। दूसरे बहुत परिश्रम करने पर भी उन्हें निर्वाह के योग्य पैसा नहीं मिलता था; अतएव टामस लिंकन ने इलिनाइस प्रान्त में चले जाने का निश्चय किया। पिता-पुत्र ने बड़ी कठिनाई से एक गाड़ी में सामान लादकर प्रस्थान किया। यहां भी अपने हाथों से जंगल साफ करके मकान बनाया गया किन्तु यह नया स्थान भी उन्हें पसन्द न आया। यहां भी बीमारियां सताने लगीं; अतएव वे इस प्रान्त को भी छोड़कर कोल्स नामक प्रान्त में जा बसे। डेंटन ओफट नामक एक व्यापारी ने अब्राहम की कीर्ति सुनी। वह उससे मिलने आया और स्प्रिंग फील्ड में चलने के लिए आग्रह करने लगे। अब्राहम ने उसकी बात मान ली और वह सकुटुम्ब वहां पहुँच गये। न्यूसालेम नामक नगर में डेंटन की एक बहुत बड़ी कोठी थी। वहां पर जो गुमाश्ता काम करता था वह बड़ा ही दुराचारी और मूर्ख था। इसलिए डेंटन को बहुत नुकसान हो रहा था। अब्राहम उसके स्थान पर गुमाश्ता नियुक्त किया गया। अब्राहम ने यह कार्य बड़े ही परिश्रम और ईमानदारी से किया। उसकी मिलनसारी, नम्रता और सत्याचरण के कारण ग्राहकों की संख्या बढ़ने लगी और डेंटन को लाभ होने लगा। इस प्रकार उसने अपने मालिक और ग्राहक दोनों को खुश रखा। इस समय वह इतना कमा लेता था कि अपने परिवार का भरण-पोषण पूरी तरह हो जाता था।

निर्वाचित कप्तान

अमेरिका के मूल-निवासी यूरोप-वासियों के आजाने पर जंगलों में जाकर रहने लगे थे। यह लोग नवागत यूरोप-वासियों से बड़ी शत्रुता रखते थे। इनके रहने का स्थान मिसिसिपी नदी के पश्चिमी किनारे पर था। १८३२ ई० में उनके सरदार ब्लेकहाक ने मिसिसिपी पार करके

आक्रमण कर दिया। इधर से सेनापति एटकिन्सन और सूबेदार रेनाल्डस ने लड़ाई की तैयारी की। सेना की आवश्यकता हुई और स्वयंसेवक भर्ती किये जाने लगे। न्यासालेम गांव के कुछ लोगों के साथ अब्राहम ने भी अपना नाम दे दिया। उस समय यह प्रथा थी कि स्वयंसेवक ही अपने कप्तान का चुनाव किया करते थे। इस प्रथा के अनुसार चुनाव का कार्यक्रम निश्चित हुआ। अब्राहम और कर्क पेट्रिक के नाम सुझाए गए अतएव दोनों व्यक्तियों को बुलाकर अलग-अलग खड़ा किया गया और सैनिकों से कहा गया कि जो सैनिक जिसे चाहे उसके पास जाकर खड़ा होजाय। ६० प्रतिशत सैनिक अब्राहम के पास आकर खड़े होगए और वह कप्तान नियुक्त कर दिया गया। बड़े-बड़े पदों पर भी आगे-आगे पहुंच जाने पर वह कहा करता था कि—"इस चुनाव में मुझे जितना आनन्द हुआ उतना और किसी चुनाव में नहीं हुआ। सेना ने युद्ध के लिए प्रस्थान किया और जगह-जगह लड़ाइयां लड़ी गईं। अब्राहम लिंकन अपने अधीनस्थ सैनिकों की रक्षा और देख-भाल अपने प्राणों से भी बढ़कर करता था। वह ऐसी चित्ताकर्षक बातें करता था कि सैनिक उसे बहुत चाहते थे। इसके अतिरिक्त वह हृष्ट-पुष्ट और शक्तिशाली था। उसकी बराबरी करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति सेना में नहीं था। उसने कई लड़ाइयां लड़ीं और अन्त में शत्रु को पराजित किया। ब्लेकहाक अपने कई साथियों के साथ पकड़ लिया गया। इस प्रकार इस लड़ाई का अन्त हुआ।

लड़ाई समाप्त हो जाने पर अब्राहम को कोई काम न रहा वह। किसी काम की तलाश में फिरने लगा। इसी समय कांग्रेस का चुनाव होने वाला था। अब्राहम को उसकी आशा के विरुद्ध इसमें सफलता मिली। उसे दूसरों की अपेक्षा २७७ मत अधिक मिले थे; किन्तु सब प्रान्तों के चुनाव में उसका नाम न आसका, क्योंकि अभी अन्य प्रांतों के लोग उसे नहीं जानते थे। उसको इससे कोई दुःख नहीं हुआ। जिन्होंने उसे चुना था उन्हें अवश्य बुरा लगा।

पोस्टमास्टर

कुछ समय तक व्यापार करने के बाद सरकार ने उसे उस गांव का पोस्टमास्टर नियुक्त किया। वेतन कम होने से उसका निर्वाह नहीं होता था, अतएव उसे दूसरा धंधा भी करना पड़ा किन्तु इससे पोस्ट-आफिस के काम में कोई बाधा न आने पाई। पोस्ट-आफिस के पैसे को वह अलग रखता था और बहुत आवश्यकता पड़ने पर भी उसे खर्च नहीं करता था। इस सम्बन्ध में एक आश्चर्य-जनक घटना का उल्लेख किया जाता है। कहा जाता है कि उसने जब पोस्ट मास्टरी का काम छोड़ा तब उसके पास कुछ पैसे बच गए। इस बचत का कोई हिसाब नहीं मिला। अतः सरकार में जमा भी कैसे कराए जाते? तब उसने इस रकम को पुड़िया में बांध कर अपनी टोपी में रख लिया। कई बार ऐसा मौका आया कि उसके पास एक भी पैसा नहीं रह गया किन्तु उसने इस पुड़िया को हाथ नहीं लगाया। कई वर्षों के बाद जब वह वकील होगया तो पोस्ट आफिस के किसी अधिकारी की नज़र इस गलती पर पड़ी और यह निश्चित हुआ कि यह रकम अब्राहम लिंकन से वसूल की जाय। सारा हिसाब लेकर एक आदमी उसके पास भेजा गया। इस समय वह मुकदमे के कागज देख रहा था। हिसाब देखकर उसने अपनी टोपी में से वह पुड़िया निकालकर दे दी। यह देखकर उस अधिकारी को बड़ा आश्चर्य हुआ।

सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में

१८३७ ई० में उसने वकालत पास की। इस समय वह दूसरी बार धारा-सभा का सभासद चुना गया था। उसने इस कार्य को बड़ी ही योग्यता से सम्पन्न किया। उसने वकालत आरम्भ की। वकालत के दिनों में उसने हमेशा इस बात का खयाल रखा कि उसका पक्ष सत्य का हो। जिस क्षण उसे यह मालूम होजाता कि उसका पक्ष सत्य का पक्ष नहीं है, तो वह बड़ा लज्जित होजाता था, और उसी क्षण उस मुकदमे की पैरवी करना छोड़ देता था। इस सम्बन्ध में कई मनोरंजक घटनाओं का उल्लेख किया जाता है जिनसे यह सिद्ध होता है कि उसकी सत्यप्रियता

उत्तरोत्तर बढ़ती जारही थी और वह गरीबों की सहायता के लिए सदैव तैयार रहता था।

१८४२ ई० में उसका विवाह हुआ। पति-पत्नी में अनन्य प्रेम था। सार्वजनिक कार्यों में उत्साह लेने के कारण वह काफ़ी प्रसिद्ध होचुका था और लोगों को उसके सम्बंध में यह विश्वास होगया था कि उसे जितना अधिक अधिकार मिलेगा वह उतनी ही अधिक सेवा करेगा। अतएव जब कांग्रेस का चुनाव हुआ तो वह चुन लिया गया।

दास-प्रथा का विरोध

कांग्रेस में प्रवेश करते ही उसे वहां एक बड़े प्रतिपत्ती का सामना करना पड़ा। इसका नाम डग्लस था। डग्लस बड़ा बुद्धिमान और अच्छा वक्ता था। गुलामों के व्यापार के सम्बंध में अब्राहम लिंकन और डग्लस के विचार एक दूसरे के विरुद्ध थे। अब्रहम लिंकन गुलामों के व्यापार को बहुत बड़ा पाप समझता था। वह कहता था कि ईश्वर इसे बिलकुल पसंद नहीं करता कि मनुष्य ही मनुष्य के साथ पशुवत् व्यवहार करे। वह इसे बिलकुल बंद कर देने के फ़िक्र में था। इस समय दक्षिणी राज्यों में इतने गुलाम थे कि वहां के किसानों का सारा काम वे ही करते थे। दासत्व प्रथा के बंद होने की कल्पना से ही उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठती थी। इस प्रश्न के आते ही कांग्रेस में बड़ा मतभेद होजाता था। दोनों अपने-अपने पक्ष के समर्थन का पूरा प्रयत्न करते। अतएव यह वैमनस्य दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। अब्राहम लिंकन प्रांत-प्रांत का दौरा करके दास-प्रथा का विरोध करता और उसीके पीछे-पीछे डग्लस उसका खण्डन करता फिरता। बड़ा ही विवाद फैल गया। इस हलचल और अशांति के फलस्वरूप १८५६ ई० में प्रजा सत्ताक पक्ष नामक एक समिति की स्थापना हुई। इस समिति में अब्राहम लिंकन ने जो भाषण दिया वह बड़ा ही मार्मिक था। अमेरिका के इतिहास में यह व्याख्यान बहुत प्रसिद्ध है। इस व्याख्यान से लोगों को यह विश्वास होगया कि अब्राहम के समान कोई महापुरुष अमेरिका में नहीं है। १८६० तक वह सारी

अमेरिका में बहुत प्रसिद्ध होगया। लोग उस पर श्रद्धा रखने लगे। और वह उत्तरी राज्यों के लोगों के लिए तो पूजनीय बन गया।

कांग्रेस के अध्यक्ष-पद पर

इस समय चारों ओर चुनाव की हलचल मची हुई थी। कांग्रेस के अध्यक्ष का चुनाव होने वाला था। चुनाव हुआ और १६ जून १८४० ई० को २५ हजार लोगों की सभा में निर्वाचन का नतीजा सुनाया गया। चारों ओर आनन्द छा गया। बड़े-बड़े शहरों में तोपे दगने लगीं और देश में उत्साह की लहर फैल गई। वह इस समय स्प्रिंग फील्ड नामक नगर में था। इस समाचार को सुनकर उसको प्रसन्नता तो अवश्य हुई किन्तु वह फूल नहीं उठा, क्योंकि वह जानता था कि कितना बड़ा जिम्मेदारी का काम उसके सामने है। जब वह स्प्रिंग-फील्ड से रवाना हुआ तो हजारों की भीड़ उसे विदा करने के लिए एकत्र हो गई। अब्राहम लिंकन की आंखे भी डबडबा आईं। उसने उन्हें सान्त्वना देते हुए विदाई ली।

दासप्रथा का अन्त

विरोध अभी कम नहीं हुआ था। वह स्वयं इस विरोध को देखकर बड़ा दुःखी होता था। अपने अध्यक्ष-पद से उसने जो पहला भाषण दिया उससे तो उसके विरोधी भी पानी-पानी हो गये। अब्राहम लिंकन तथा उत्तर के प्रान्त के निवासियों की भी यह इच्छा थी कि दासत्व-प्रथा का अन्त कर दिया जाय। दक्षिण के निवासी दास-प्रथा के समर्थक थे। इस चुनाव से उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी। उन्होंने चार्ल्सटन नामक नगर में एक बड़ी सभा का अधिवेशन किया। उसमें बहुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि—"साउथ कारोलिना और अन्य संस्थानों में आज तक जो सम्बन्ध था वह अब नहीं रहा।" इसका यह कारण बताया गया कि अब वह व्यक्ति अध्यक्ष चुना गया है जो दासत्व-प्रथा का विरोधी है और हमारा मतभेद होने के कारण हम उनसे सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। १८६१ ई० में सात संस्थाओं ने मिलकर विद्रोह का झंडा खड़ा कर

दिया। बहुत-सी सेना जमा करके वे लड़ने के लिए तैयार हो गये। भूतपूर्व अध्यक्ष के समय दक्षिण वाले बड़े-बड़े पदों पर काम करते थे, इस समय भी वह उन्हीं स्थानों पर बने हुए थे। गुप्त और प्रकट रीति से वह विद्रोहियों की सहायता करने लगे। कोष में पैसा नहीं था। ऐसी विषम स्थिति में अब्राहम लिंकन ने बहुत प्रयत्न किया कि झगड़ा टल जाय लेकिन ऐसा न हो सका। विद्रोहियों ने चार्लस्टन नामक नगर के सम्टर नामक किले को घेर लिया और उसे जीत लिया। इसी घटना से दक्षिण और उत्तर वालों में युद्ध आरंभ हो गया। उत्तर वालों के प्रयत्न से शीघ्र ही सेना एकत्र हो गई। अब ७५ हजार सैनिक तैयार थे। इनको लेकर लड़ाई आरंभ की जाने वाली थी। इसी समय डग्लस के मन में एक बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। अब्राहम लिंकन के गुणों से प्रभावित होकर उसने सारी शत्रुता छोड़ दी और उसकी सहायता करने लगा। वे दोनों सच्चे मित्र बन गए। दोनों ओर की तैयारी अच्छी थी। दोनों ही बड़ी वीरता से लड़े, विजय-लक्ष्मी दक्षिण वालों को मिली और उत्तर वालों को भागना पड़ा। फिर से सेना एकत्रित की गई। कुल ६ लाख ४० हजार सैनिक एकत्र हुए। लड़ाई फिर आरंभ हुई। इन्हीं दिनों जनवरी १८६३ ई० में उसने एक घोषणा-पत्र द्वारा यह प्रकट कर दिया कि—"आज से सब संस्थानों के गुलाम मुक्त हो गए। उन पर मालिकों की कुछ भी सत्ता नहीं रहेगी और वे अन्य लोगों की भांति स्वतंत्र रहेंगे। जो व्यक्ति उनकी स्वतन्त्रता में बाधा डालेगा वह सरकार का शत्रु माना जायगा और उसे नियमानुसार दण्ड दिया जायगा।" इस प्रकार इस घोषणा से उसने दास-प्रथा का अन्त कर दिया। इस घोषणा के पहुँचते ही ४० लाख गुलाम मुक्त हो गए। अब तो और भी असन्तोष फैल गया और लड़ाई अधिक जोर से होने लगी। विद्रोहियों को अब गुलामों की सहायता मिलना बन्द हो गया। दूसरी ओर वे उत्तर वालों से जा मिले और उनकी नौकरी करके सहायता करने लगे। अन्त में दक्षिण वाले परास्त हो गये और अब्राहम लिंकन का पवित्र कार्य पूरा हो गया।

मानवता का पुजारी

अब्राहम लिंकन का बाल्यकाल बड़ी निर्धनता में व्यतीत हुआ था और अब वह सर्वोच्च पद पर पहुँच गया था। इन परस्पर विरोधी परिस्थितियों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। न तो दरिद्रता ने उसे उन्नति करने में बाधा पहुँचाई और न इस वैभव ने उसे मदान्ध बनाया। समुद्र की भांति दोनों ही परिस्थितियों में वह अटल रहा। इस समय उसे बहुत बड़ा पद प्राप्त था किंतु वह उसी प्रकार परहित व्रत में तल्लीन रहता था। अपने शासन-काल में उसने कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये, दिन-रात परिश्रम किया और सेवा-भाव ही से राष्ट्र के कल्याण के लिए अविरत परिश्रम किया। इस समय में उसने जिस दयालुता और सेवा भाव से काम किया वह अमेरिका के इतिहास में चिरस्मरणीय है। वह मानवता का पुजारी था। ऊंच-नीच और काले-गोरे का भेद मिटाने का उसने शक्ति भर प्रयत्न किया था। वह जितने उत्साह से गोरों से मिलता था। उतने ही उत्साह से कालों से भी मिलता था।

अध्यक्ष-काल समाप्त होने पर जब दूसरी बार चुनाव हुआ तो इस समय भी वही अध्यक्ष चुना गया। चारों ओर उत्सव मनाये गए और फिर एक बार आनन्द की लहर फैल गई। उत्तर और दक्षिण वालों की लड़ाई इस समय लगभग खतम होचुकी थी, किंतु आपसी वैमनस्य का पूरी तरह अन्त नहीं हुआ था। इधर उत्सव हो रहे थे और उधर उसकी मृत्यु के लिए षड्यन्त्र रचे जा रहे थे। इन षड्यन्त्रों का किसी को पता नहीं लगा। वाशिंगटन में विजयोत्सव के उपलक्ष में कई स्थानों पर उत्सव मनाए जारहे थे और नाटक खेले जारहे थे। सभी जगह से उसे निमन्त्रण मिल रहे थे सबमें सम्मिलित होने के लिए तो उसके पास समय नहीं था किंतु कभी-कभी उनके परितोष के लिए चला जाया करता था। १४ अप्रैल सन् १८६५ को यह बात फैल गई कि वह अमुक नाटक देखने के लिए जायगा। वह ठीक समय पर वहां पहुंच गया। खेल आरम्भ हुआ सब लोग खेल देखकर मुग्ध रहे थे कि

अचानक बन्दूक की आवाज सुनाई दी देखा तो गोली अब्राहम के कपाल को वेध चुकी थी और वह मूर्च्छित होकर मृत-प्राय होगया था। सब लोगों को उस समय जो दुःख हुआ उसका वर्णन बड़ा ही कठिन है। सभी शोकाकुल होकर रो पड़े। चारों ओर "बड़ा अनर्थ हुआ, वज्राघात हुआ आदि मार्मिक शब्द सुनाई देने लगे। पुलिस खूनी का पता लगाने के लिए दौड़ी। सभी को यह विश्वास होगया कि यह विपक्षियों का कार्य है। उसे उठाकर एक मित्र के घर लेजाया गया। बड़े-बड़े डाक्टर आये किंतु वह बच न सका। दूसरे दिन प्रातःकाल लाखों दुखी जनों का आश्रयदाता, मानवता पुजारी सत्य-निष्ठ और परहितव्रत में संलग्न महापुरुष इस संसार को छोड़कर चल बसा। यद्यपि उसने नश्वर देह-त्याग दिया फिर भी अपने यशः शरीर से वह आज तक अमर है।

: १० :

अमेरिका का पिता

[जार्ज वाशिंगटन]

कठिनाइयां मानव-जीवन की कसौटी हैं। इस कसौटी पर जो जितना अधिक खरा उतरता है वह उतना ही महान है। महानता का, श्रेय का और उन्नति का मार्ग कठिनाइयों के भयंकर बीहड़ वन में से होकर जाता है जहां सुख नामकी कोई वस्तु नहीं। वहां तो पग-पग पर कांटे हैं पत्थर हैं खाइयां हैं, पर्वत हैं, हिंसक पशु हैं और है अविश्रांत जीवन। जिन्हें प्राणों का मोह है उनके लिए यह मार्ग नहीं। जो सिर पर कफन बांधे हुए मृत्यु से खेलने के लिए तैयार रहते हैं। वही इधर आते हैं और दिन-रात अथक परिश्रम करके अन्त में सफलता प्राप्त कर लेते हैं। अमेरिका का प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन भी ऐसे ही योद्धाओं में से था। उसीने अमेरिका को अंग्रेजी शासन के पंजों से छुड़ाकर मुक्त किया और उसकी नींव इस प्रकार सुदृढ़ की कि वह आज तक दुनिया के सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रों में गिना जाता है।

जन्म और बाल्यकाल

जार्ज वाशिंगटन का जन्म १७३२ ई० में उत्तरी अमेरिका के वर्जीनिया नामक प्रदेश में हुआ था उसका पिता इंग्लैण्ड का निवासी था। वह उन व्यक्तियों के वंश में से था जो १६५७ ई० में इंग्लैण्ड छोड़कर अमेरिका में बस गए थे। उसके पास मेरीलेण्ड में बहुत सी जमीन थी। उसने दो विवाह किये थे। वाशिंगटन दूसरी पत्नी से उत्पन्न हुआ था। बचपन में वह अपने पिता के ही पास रहा और स्कूल में साधारण शिक्षा प्राप्त की किंतु उसकी मां बड़ी ही योग्य और सुशील महिला थी वह

आदर्शवादी थी और सत्यता, वीरता शील आदि गुणों पर मुग्ध थी। उसने स्वयं वाशिंगटन को शिक्षा दी। उसकी उत्कट इच्छा थी कि वह अपने पुत्र में इन्हीं गुणों को देखे। नेपोलियन की मां की भांति वह भी अपने पुत्र को महान कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करती रहती थी और सदैव सत्यता और सच्चरित्रता की शिक्षा देती थी। माता की इस शिक्षा का ही यह परिणाम था कि उसके बाल्यकाल में एक ऐसी घटना हुई जिससे उसकी सत्यता प्रकट होती है। प्रायः बालकों से काम बिगड़ जाया करते हैं। वाशिंगटन ने भी अपनी नई कुल्हाड़ी से पिता के लगाए हुए पेड़ काट डाले किंतु जब पूछा गया कि किसने काटे तो उसने जो सही बात थी कह दी। बालक की इस सत्यता से पिता को कितना आनन्द हुआ होगा ?

वह बड़ा ही उत्साही और कुशल था। प्रत्येक काम में अपने साथियों से आगे रहता था एक दिन की बात है कि वह अपने साथियों के साथ मैदान में खेल रहा था। उसकी मां ने वहां चरने के लिए दो घोड़े छोड़ दिये थे। उनमें एक तो सवारी के काम आता था और दूसरा बिलकुल नया था। वाशिंगटन के मित्रों ने घोड़ों पर सवारी करने का विचार किया। सवारी के काम आने वाले सीधे घोड़े पर तो एक लड़का सवार होगया, किंतु लाख कोशिश करने पर भी दूसरे पर कोई सवार न हो पाया। जिन जिन बालकों ने सवार होने की कोशिश की उनमेंसे किसी को उसने लात मारी, किसी को पटक दिया और किसीको काट खाया। जब सब थक गए तो वाशिंगटन की बारी आई। वह सबसे छोटा था। किंतु बड़ी तरकीब से उसके ऊपर सवार होगया और ऐसा चिपट कर बैठा कि हिलाये न हिलता था। घोड़ा बेतहाशा भागा, उसने काफी उछल-कूद भी की किन्तु वह न गिरा। जब वह खुद ही थककर गिर गया तो वाशिंगटन उस पर से उतरा। इस दिन से वह पक्का घुड़ सवार बन गया। स्कूल में वह सदैव प्रथम रहा। खेलने में भी वह सबसे आगे रहता। अपने साथियों का वह सरदार था।

पदोन्नति

ग्यारह वर्ष की अवस्था में उसके पिता का देहांत होगया। अतः स्कूल छोड़कर वह अपने सौतेले भाई लारेन्स के पास माउण्टवर्नन गया। लारेन्स का विवाह लार्ड फेयरफेक्स के वंश की एक कन्या से हुआ था जो कि वर्जीनिया का सबसे बड़ा धनी था। लार्ड फेयरफेक्स अभी इंग्लैंड से ही आए थे और अब उन्होंने यहीं रहने का निश्चय कर लिया था। वह अपने साथ एक बड़ा पुस्तकालय भी लाए थे जिससे वाशिंगटन ने काफी लाभ उठाया। वह लार्ड फेयरफेक्स के सम्पर्क में आने लगा। वह इस बालक की कुशलता से प्रभावित होने लगे। उन्होंने सन १७७८ में जब अपनी भूमि का निरीक्षण करने के लिए अपने सर्वेयर को तथा अन्य कर्मचारियों को भेजा तो सहायक सर्वेयर बनाकर वाशिंगटन को भी उनके साथ भेजा। इस कार्य के समाप्त होते ही लार्ड फेयरफेक्स ने उसे सर्वेयर के स्थान पर नियुक्त कर दिया। दो सालों के बाद वह अपने भाई लारेन्स के साथ पश्चिमी द्वीप-समूह की यात्रा करने गया। वहां उसे सीतला निकली जिससे उसके चेहरे पर ऐसे चिन्ह होगए जो जीवन पर्यन्त रहे। वहां से वह लौटे और थोड़े ही दिन बाद उसके भाई का देहान्त हो गया। भाई की केवल एक कन्या थी जिसकी जायदाद सभालने का भार वाशिंगटन पर पड़ा। कुछ समय बाद वह भी मर गई और वाशिंगटन ही उसकी जायदाद का उत्तराधिकारी होगया। अब वह धनवान व्यक्तियों में गिना जाने लगा। उसने कृषि की उन्नति के लिए काफी प्रयत्न किया नए औजारों और तरीकों से खेती करना आरम्भ किया जो कि अभी अमेरिका में प्रचलित नहीं हुए थे। उसने नए-नए प्रयोग और सुधार करके अमेरिका के किसानों के सामने एक उदाहरण पेश किया।

१७५२ ई० में वर्जीनिया जिले की सेनाए मेजर के सहायक के स्थान पर उसकी नियुक्ति हुई। एक वर्ष के बाद वर्जीनिया के गवर्नर ने उसे एलची बनाकर फ्रान्सीसियों के पास भेजा। बरसात के दिन थे रास्ता बीहड़ वन में से जाता था और नदियों में बाढ़ आरही थी। बड़ी

कठिनाइयां उठाकर वह वहां पहुंचा और अपना संदेश सुना दिया। फ्रांसीसियों ने इसकी कोई परवाह नहीं की। फ्रांसीसी गवर्नर ने कहा कि होशियार होजाओ, बरसात समाप्त होते ही तुम्हारे ऊपर आक्रमण करूंगा और तुम्हारी फौज और चौकियों को तबाह कर डालूंगा। वाशिंगटन के साथ कुछ रेड इंडियन रास्ता बताने और उसकी रक्षा करने के लिए गए थे। फ्रांसीसियों ने इन्हें शराब पिलाकर और दावतें देकर अपनी तरफ कर लिया। वाशिंगटन ने उन्हें अपनी ओर फोड़ने की जो-जो कोशिश की सब व्यर्थ गई। अन्त में केवल दो रेड इंडियन को साथ लेकर वह वापिस चला। जितने दिन वह वहां ठहरा उतने दिनों में उसने फ्रांसीसियों की गति-विधि, उनकी आक्रमण को तरकीब और उनकी शक्ति के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार कठिनाइयां और बढ़ गई थीं। मार्ग की कठिनाई तो थी ही किंतु पथ-प्रदर्शक रेड इंडियन भी उसके खिलाफ हो गए थे क्योंकि उन्हें भी फ्रांसीसियों ने गांठ लिया था। वे वाशिंगटन को मार डालने के विचार में थे। जब वे घोर जंगल में जारहे थे तो एक ने उस पर गोली चलाई। गोली उसके सिर के पास से निकल गई। इस घटना के बाद केवल एक विश्वासपात्र व्यक्ति को अपने साथ लेकर वह चला। चलते-चलते वे एक गहरी नदी के पास पहुंचे जहां रास्ता बंद था। इसे पार करते समय वह डूबते-डूबते बचा। इस प्रकार वह दो बार मृत्यु से बाल-बाल बच गया। वर्जीनिया के गवर्नर ने उसकी कुशलता और बहादुरी की बहुत प्रशंसा की और जनता ने भी उसका बहुत आदर किया।

युद्ध

अब दोनों ओर युद्ध की तैयारियां होने लगीं वाशिंगटन ने गवर्नर को सलाह दी कि पीटसबर्ग पेन्सिलवैनिया में किला बनाया जाय। गवर्नर ने बनवाना आरम्भ किया, किंतु किला बनने के पूर्व ही फ्रांसीसियों ने आक्रमण किया और उसे छीन लिया। उन्होंने उसे बनाकर उसका नाम डूकेन रखा। अंग्रेजों ने वाशिंगटन को लेफ्टीनेण्ट कर्नल बनाकर एक

सेना के साथ भेजा किंतु वह देर से पहुंचा। इस समय तक किला जीता जा चुका था। जब किला न बचाया जा सका तो उसने रात में एकाएक फ्रांसीसी फौज पर आक्रमण कर दिया। फ्रांसीसी फौज हार गई किंतु उन्होंने दूसरी बार रेड इण्डियन की फौज के साथ आक्रमण किया और वाशिंगटन को चारों ओर से घेर लिया। उसे हार माननी पड़ी किंतु सामान और फौज के साथ वापिस चले जाने का अधिकार दिया गया। इस हार के बाद अंग्रेजों ने इंग्लैण्ड से फौज मंगाई। ब्रेडक एक बड़ी फौज लेकर आया। वाशिंगटन ने पहिले तो इसके साथ फ्रांसीसियों से लड़ने से इन्कार कर दिया किंतु स्वयं ब्रेडक के समझाने से तैयार हो गया। उसने समझाया कि समझ-बूझकर आगे बढ़ना चाहिए। क्योंकि रेड इन्डियन की फौज किसी भी समय आक्रमण करके सारा मामला बिगाड़ सकती है। ब्रेडक को विश्वास था कि अच्छी ट्रेनिंग प्राप्त और सुसज्जित फौज के सामने रेड इण्डियन की फौज क्या ठहर सकेगी ? अतएव वह बिना समझे-बूझे आगे बढ़ता गया। जब वह किले के पास पहुंचा तो रेड इंडियनों ने बाजू से और पीछे से आक्रमण कर दिया और गोलियों की बौछार शुरू कर दी। सामने कोई न था। फौज बड़े संकट में पड़ गई। और भागने लगी। जब जनरल ब्रेडक ने अपनी फौज का यह हाल देखा तो वह स्वयं आगे बढ़ा और फौज को रोकने का प्रयत्न करने लगा किंतु किसीने उसको पहिचान लिया और गोली मार दी। जनरल ब्रेडक घायल होकर गिर पड़े और सदा के लिए सो गए। अब बड़ी जल्दी में वाशिंगटन को जनरल बनाया गया। उसने बड़ी बहादुरी से अपना घोड़ा बढ़ाया। उस पर भी गोलियों की बौछार हुई। उसके चार घोड़े मर गए किंतु वह ईश्वर की कृपा से बाल-बाल बच गया लड़ाई बड़ी भयंकरता से हुई। रेड इण्डियन और फ्रांसीसी फौज साथ-साथ लड़ रही थी। उनकी संख्या तो कम थी किन्तु वे लड़ बड़ी बहादुरी से रहे थे। उन्होंने अन्त में अंग्रेजी फौज को इस प्रकार तंग कर दिया कि उसे भागना पड़ा। और फ्रांसीसियों की विजय हुई।

इस हार से अंग्रेजों ने बड़े चुने हुए सरदार लड़ाई के लिए भेजे। लड़ाई छः साल तक और चलती रही। बहुत रुपया खर्च हुआ और दोनों ओर के कई व्यक्ति मारे गये किन्तु अन्त में अंग्रेजों की विजय हुई और कनाड़ा का बहुत बड़ा प्रदेश उन्हें मिला।

विवाह के बाद

लड़ाइयों में उसका स्वास्थ्य खराब होता जा रहा था। अतएव उसने त्यागपत्र दे दिया और छः-सात वर्षों तक माउन्टवर्नन में रहा। वह लेजिस्लेटिव कौंसिल का मेम्बर भी चुना गया और उसका बड़ा मान-सन्मान हुआ। इन्हीं दिनों उसने एक धनी विधवा से विवाह कर लिया और सुख से रहने लगा।

वशिंगटन की यह हार्दिक इच्छा थी कि अमेरिका भी यूरोपीय देशों की भांति उन्नत बने। किन्तु जब उसने इस मार्ग में अंग्रेजों के द्वारा पैदा की हुई बाधाओं को देखा तो उसे बड़ा असन्तोष हुआ। वह अंग्रेजों की स्वेच्छाचारिता से अप्रसन्न था। जब उसने सन् १७७४ ई० में ओहीओ और पोटोमेक के बीच में नहर खुदवाने का विचार किया तो 'क्वेबेक एक्ट' ने उसका रास्ता रोक दिया। इस कानून से उसे बड़ा दुःख हुआ। फिर जब 'स्टाम्प एक्ट' और 'टी एक्ट' बने तो उनसे लोगों में भी इतना असन्तोष फैला कि वे उसका विरोध करने के लिए तैयार हो गए और अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा करने के लिए तैयारियां करने लगे।

स्वातन्त्र्य युद्ध

जब उपनिवेश वालों ने १७७४ ईस्वी में पहली बार कांग्रेस की मीटिंग की तो वह वर्जीनिया से प्रतिनिधि के रूप में वहां गया। यह मीटिंग फिलेडल्फिया में ७ सप्ताह तक होती रही। दूसरे वर्ष कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन हुआ और वाशिंगटन अमेरिकन फौजों का कमाण्डर इन चीफ बनाया गया। वाशिंगटन कई लड़ाइयों में बड़ी वीरता से लड़ चुका था और उसे लड़ाई का काफी अनुभव भी था। इसीलिए उसकी

इस महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्ति होने से दक्षिण वाले और न्यूयार्क निवासियों ने इसका विरोध किया। वे चाहते थे कि कमाण्डर-इन-चीफ उन लोगों में से ही किसीको बनाया जाय, किंतु उनमें वाशिंगटन-जैसा अनुभवी और बहादुर व्यक्ति नहीं था। अतएव उनका विरोध शान्त हो गया। बहुत से अमेरिका निवासियों की भांति पहिले वह भी अंग्रेजों से विद्रोह करने के पक्ष में नहीं था किन्तु अब उनकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई स्वेच्छाचारिता से उसका असंतोष बढ़ रहा था। जब अमेरिकन लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता का युद्ध छेड़ दिया तो वाशिंगटन ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे जीतने का प्रयत्न किया। अमेरिका की पूर्ण स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता और एकता ये ही उसके आदर्श थे, जिन्हें उसने अपने जीवन-काल में ही पूरा करके दिखा दिये। इसे पूरा करने में उसे बहुत ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा; किन्तु वह कभी निराश नहीं हुआ, उसकी सेना को वेतन नहीं मिलता था, न उसके पास पर्याप्त हथियार ही थे। उसके पास रसद का भी पूरा प्रबंध नहीं था, किन्तु फिर भी वह हतोत्साह नहीं हुआ। उसका अनुशासन इतना कड़ा था कि इन कठिनाइयों के होते हुए भी उसके सैनिक बहादुरी से लड़ते रहे।

वाशिंगटन ने किले-बंदियां आरम्भ कीं। अंग्रेजी सेना के किनारे पर उतरने के थोड़े दिन बाद ही एक पत्र भेजकर यह प्रकट किया कि जो लोग आत्म-समर्पण कर देंगे उन्हें क्षमा कर दिया जायगा। उनके इस पत्र का उन्हें यह उत्तर दिया गया कि अंग्रेजों के जुल्मों का विरोध कोई पाप नहीं है, अतएव उसके लिए वे क्षमा मांगना नहीं चाहते। इस तरकीब से कोई लाभ न देखकर उन्होंने लड़ाई आरंभ की। अंग्रेजों की एक बड़ी सेना किनारे पर उतरी और उसने रातों-रात आगे बढ़कर प्रातःकाल अमेरिकन सेना पर आक्रमण कर दिया। अमेरिकन सेना को इस आक्रमण से बड़ी क्षति हुई। उसे भागने के लिए विवश होना पड़ा किन्तु १७७६ ई० के अन्त तक वाशिंगटन ने एक सेना एकत्र कर ली और ट्रेन्डन पर आक्रमण कर दिया। बहुत-सा गोला बारूद इस आक्रमण

में वाशिंगटन के हाथ लगा। लार्ड कार्नवालिस एक बड़ी सेना के साथ इंग्लेण्ड से आये। वह लड़ाई के लिए आगे बढ़े, किन्तु अमेरिकन सेना पर आक्रमण करने के पूर्व उन्होंने कुछ ठहर जाना उचित समझा। वाशिंगटन ने अपने कैम्प में प्रकाश रहने दिया और सारी सेना को रातों-रात वहां से हटाकर प्रिन्सटाउन पर आक्रमण कर दिया। इस लड़ाई में अंग्रेजों के ५०० आदमी काम आए। १७७७ का वर्ष बड़ी ही कठिनाइयों से बीता। इस वर्ष वाशिंगटन को कईबार हारना पड़ा। इससे कांग्रेस उसे कमाण्डर-इन चीफ के पद से हटाने का विचार करने लगी, किन्तु अन्त में उसे अपने सब प्रयत्नों का पुरस्कार मिला। परिस्थिति बदली और भाग्य भी अमेरिकनों का साथ देने लगा। फ्रांसीसियों ने अमेरिकन लोगों की सहाकता के लिए सेना भेजी और १७८१ ई० में कार्नवालिस यार्कटाउन में घेर लिया गया। उसने आत्म-समर्पण कर दिया। इसके दो वर्ष के बाद उसने खजाने के कन्ट्रोलर को जो हिसाब बताया उसके अनुसार इस लड़ाई में उसने अपने व्यक्तिगत १४,५०० पौण्ड खर्च किये थे। उसने सेना के पद से त्यागपत्र दे दिया और यह इच्छा प्रकट की कि अब वह अपने जीवन के अन्तिम दिन शान्ति के साथ व्यतीत करना चाहता है।

विजय के बाद

वह पहली बार इतना बड़ा नाम कमाकर अपने घर वापिस लौटा था। अतएव शहर में चारों ओर खुशी मनाई जारही थी। उसका बड़ी धूमधाम से स्वागत किया गया। उसकी मां इन सबसे दूर अपने घर पर बैठी हुई सूत कात रही थी। वाशिंगटन को देखकर वह बोली—"जार्ज तुम्हें देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई। तुम तो बिलकुल बदल गए।" दूसरे दिन जब अन्य लोगों ने उसकी बड़ी तारीफ की तो उसकी मां ने कहा—"मैं तो उसे बचपन से ही जानती थी कि वह एक होनहार लड़का है, इसमें आश्चर्य की क्या बात है।"

लड़ाई समाप्त होचुकी थी और अमेरिकन अब स्वतन्त्र हो चुके थे; किन्तु इतने से ही उनकी मुसीबतों का अन्त नहीं होगया था। इतने वर्षों को

लड़ाई के कारण चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई थी। कांग्रेस पर कर्जा होगया था। सिपाहियों को भी वेतन देना था किन्तु दिया कहां से जाता? सभी लोगों ने यह अनुभव किया कि एक मजबूत सरकार बनाये बिना इन कष्टों का अन्त नहीं होगा, अतएव हरएक सूबे के प्रतिनिधि शासन-विधान बनाने के लिए इकट्ठे हुए। फिलेडल्फिया के स्टेट हाउस में सभा का कार्यक्रम आरम्भ हुआ। वाशिंगटन ने सभापति का कार्य किया। बड़े-बड़े विवाद के बाद विधान बना और सब सूबोंने इसे स्वीकार कर लिया। प्रेसीडेन्ट का चुनाव हुआ। उसका कार्यकाल ४ वर्ष का रखा गया था। चुनाव में बहुमत से वाशिंगटन ही सफल हुआ। इसलिए उसे एक बार फिर अपना घर छोड़कर न्यूयार्क आना पड़ा। रास्ते में स्थान-स्थान पर उसका शानदार स्वागत हुआ। ३० अप्रैल १७८६ ई० में उसने अपने पद का कार्य संभाल लिया।

वाशिंगटन के सामने अनेकों प्रश्न थे, पहला प्रश्न था कि कर्जा किस प्रकार चुकाया जाय। अलेग्जेण्डर हेमिल्टन ने इस कार्य में उसकी बड़ी मदद की। उसने बड़ी बुद्धिमानी से इस समस्या को हल किया। उसकी सलाह से यूनाइटेड स्टेट्स बैंक की नींव डाली गई। इस बैंक के पास धीरे-धीरे बहुत पूंजी होगई। सरकार पर लोगों का विश्वास हो गया और व्यापार कला-कौशल की भी बहुत उन्नति हुई। दूसरी समस्या रेड-इण्डियन लोगों की थी आबादी बढ़ने से लोग पश्चिम की ओर जाकर बसने लगे थे। इन लोगों को वहांके मूल-निवासी रेड-इण्डियन बहुत परेशान करते थे। वाशिंगटन ने बहुत-सी भूमि उन लोगों से रुपया देकर खरीद ली, किन्तु उनमें से कुछ लोग इस पर राजी न हुए और उन्होंने लड़ाई की धमकी दी। लड़ाई अनिवार्य-सी हो गई। बारी-बारी से तीन जनरल भेजे गए। पहले दो जनरल तो हार गए किन्तु तीसरी बार जनरल वेग के साथ जो सेना गई उसने रेड इण्डियन लोगों को बुरी तरह हरा दिया और यह प्रश्न भी हल होगया।

सबसे आगे

चार वर्ष के बाद जब उसका कार्यकाल समाप्त हुआ तो वह फिर दुबारा प्रेसीडेण्ट चुना गया। इस बीच एक ऐसा दल बन गया था जो उसका विरोधी था, किन्तु बहुमत अब भी उसके पक्ष में था। लोग उसे अमेरिका का पिता मानते थे और उस पर बहुत विश्वास रखते थे। ह्विस्की पर जब कर लगाया गया तो कुछ लोगों ने उसे देने से इन्कार कर दिया और विद्रोह करने के लिए तैयार होगए। पर वाशिंगटन ने फौज भेजकर उसे शान्त कर दिया। वाशिंगटन ने दल-बन्दियों को कम करने और संगठित होकर कार्य करने के लिए लोगों को प्रेरित किया और सामूहिक प्रयत्न से अमेरिका की उन्नति के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया। उसके इन सब प्रयत्नों से अमेरिका की बहुत उन्नति हुई। दिन-पर-दिन उसकी शक्ति बढ़ती गई और व्यापार कला-कौशल आदि सभी बढ़ने लगे।

जब तीसरी बार लोगों ने उसे ही प्रेसीडन्ट बनाने का प्रयत्न किया तो उसने इन्कार कर दिया। वह अपना बुढ़ापा शान्ति से बिताना चाहता था। अतएव अपने घर लौट गया। सन् १७९९ ई० में सर्दी लगने से वह बीमार होगया और इसी बीमारी से उसकी मृत्यु होगई। उसकी मृत्यु से सारे देश में शोक छा गया। मरते समय उसने डाक्टर से कहा था कि वह मृत्यु से नहीं डरता। वह जानता था कि उसने बड़ी लगनसे देश की सेवा की है। निष्पाप शक्ति के लिए भय कैसा ?

उसका सारा जीवन देश की सेवा में व्यतीत हुआ। अपने बचपन में वह खेल-कूद में सबसे आगे रहता था। युवावस्था में लड़ाई के मैदान में भी वह सबसे आगे रहा। जब लड़ाई समाप्त होगई और शान्ति स्थापना का समय आया तो उस समय भी वह सबसे आगे रहा और जबतक जीवित रहा उस समय तक और उसके बाद भी अपने देश-वासियों के हृदय में भी सबसे आगे रहा।

: ११ :

कमाल अतातुर्क

हमारे देश में कहावत है कि 'खोटा बेटा और खोटा पैसा वक्त पर काम आता है'। बहुधा यह देखा भी गया है कि जो लोग बचपन में नटखट, उद्दंड और उच्छृंखल दिखाई देते हैं, वे आगे चल कर ऐसे काम कर दिखाते हैं कि संसार को चकित होना पड़ता है। कमाल अतातुर्क अर्थात् तुर्की के पिता ग़ाजी मुस्तफा कमाल पाशा का जीवन भी ऐसा ही एक उदाहरण प्रस्तुत करता है। जब कमाल स्कूल में पढ़ता था तब अपने सहपाठियों से कहा करता था, "मैं तुम लोगों की तरह नहीं हूं; मैं कुछ बनना चाहता हूं"। पर उस समय किसीको गुमान भी न हो सकता था कि अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में कमाल अपने देश का भाग्य विधाता बनेगा और 'योरप का रोगी' कहलाने वाले तुर्की को एक जीवित राष्ट्र बना देगा।

जन्म और बाल्यकाल

कमाल पाशा का जन्म १८८१ ई० में यूनान के सालोनिका नामक कस्बे में हुआ। इसकी माता का नाम जुबैदा और पिता का अलीरज़ा था। कमाल का बचपन का नाम मुस्तफा था। अलीरज़ा सरकारी दफ्तर में बाबू का काम करता था। यद्यपि वह ग़रीब था पर उसमें आत्मगौरव की मात्रा बहुत अधिक थी। ज़ुबैदा पढ़ी-लिखी तो बिल्कुल न थी पर थी बहुत चतुर और तेज़-मिज़ाज। धर्म और देशभक्ति की भावना उसमें कूट-कूट कर भरी थी। मुस्तफा अपने माता-पिता का एकलौता पुत्र था, इसलिए इसका बचपन माता के लाड़-प्यार में बीता।

जब यह नौ वर्ष का था तो अलीरज़ा का देहान्त हो गया और ज़ुबैदा को अपने भाई की शरण में जाना पड़ा। ग्यारह वर्ष की उम्र में

मुस्तफ़ा को सालोनिका के एक स्कूल में भर्ती करा दिया गया, पर वहां उसने बड़ी ही उच्छृंखलता का व्यवहार किया। यहांतक कि एक दिन वह अपने अध्यापक को मारपीट कर स्कूल से भाग आया।

शिक्षा

इसके बाद ज़ुबैदा ने उसे अलीरज़ा के एक मित्र की सहायता से सालोनिका के सैनिक स्कूल में भर्ती करा दिया। यहां उसने बहुत जल्दी उन्नति की और स्कूल के सब नवयुवकों पर आतंक जमा लिया। स्कूल के एक अध्यापक कप्तान मुस्तफ़ा की उस पर विशेष कृपा थी। इस अध्यापक ने मुस्तफ़ा का नाम बदल कर कमाल रख दिया और तबसे यह मुस्तफ़ा कमाल कहलाने लगा।

सत्रह वर्ष की आयु में वह मोनास्टिर के सैनिक स्कूल में भेजा गया और दो वर्ष में वहां से सब-लेफ्टिनेन्ट होकर कुस्तुन्तुनिया के इम्पीरियल स्टाफ कॉलेज में दाखिल हो गया। यहां आकर कुछ दिन तक तो वह जुआ, शराब और व्यभिचार के अड्डों में फंस गया, परन्तु यहां उसका सम्पर्क क्रान्तिकारियों से हुआ जिससे उसके जीवन की धारा ही बदल गई।

क्रान्तिकारी दल, "वतन" और गिरफ्तारी

स्टाफ कालेज के लगभग सारे नवयुवक अफ़सर क्रान्तिकारी थे। उन्होंने 'वतन' नाम की एक क्रान्तिकारी संस्था बना रक्खी थी जिसका उद्देश्य यह था कि तुर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद के स्वेच्छाचारी और निर्दय शासन का अन्त करके तुर्कों को विदेशियों के षड्यन्त्रों से छुड़ाया जाय। कमाल तुरन्त इस क्रान्तिकारी दल का नेता बन गया। परन्तु सुल्तान को इसका पता लग गया। उसने सारे क्रान्तिकारियों को गिरफ्तार करके इस्तम्बोल के लाल क़ैदखाने में बन्द कर दिया। परन्तु वह डरा कि कहीं इन नवयुवक सैनिक अफ़सरों की हत्या से देश में विद्रोह न खड़ा हो जाय। अतः उसने इन सबको माफ़ी देने की घोषणा कर दी और 'वतन' को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने का आदेश दिया।

"एकता और उन्नति" कमेटी

१६०८ ई० में कमाल तीसरी सेना का अफ़सर बन कर सालोनिका में आगया जो उस समय विद्रोह का केन्द्र बन रहा था। लगभग दो वर्ष पहले से "एकता और उन्नति" नामक एक क्रान्तिकारी संगठन ज़ोर पकड़ रहा था, जिसका नेता अनवर था। जब कमाल इस संगठन में शामिल हुआ तो उसे तुरन्त यह अनुभव होने लगा कि इन आदर्शवादियों से उसकी नहीं पटेगी।

अनवर से मतभेद

लेकिन अनवर का सितारा इस समय बुलन्दी पर था। उसने कुस्तुन्तुनिया पर चढ़ाई करके तुर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद को शासन में सुधारों की घोषणा करने के लिए विवश कर दिया। इधर तुर्की के पड़ौसी योरपीय राष्ट्रों ने तुर्की को नष्ट करने के लिए जो कार्यवाहियां कीं उन सबका भी इसने प्रतिकार कर दिया और सुल्तान अब्दुल हमीद को गद्दी से उतार कर उसके चचेरे भाई को नाममात्र का सुल्तान बना दिया। इस तरह तुर्की की वास्तविक राज्य-सत्ता एक प्रकार से "एकता और उन्नति" कमेटी के हाथों में आगई।

इन विजयों से अनवर का साहस इतना बढ़ गया कि वह सारे तुर्की-भाषा-भाषी राष्ट्रों को संगठित कर एक विशाल आतोमन साम्राज्य स्थापित करने के स्वप्न देखने लगा। अतः उसने सेना का पुनः-संगठन करने के लिए लीमान फ़ॉन सान्डर्स नामक एक जर्मन सेनापति को बुलाया। कमाल ने अनवर के इस कार्य का घोर विरोध किया और उसे तुर्की के हित में अनिष्टकारी बतलाया। इसपर अनवर ने नाराज़ होकर उसे सोफ़िया भेज दिया।

कमाल का उत्थान

लेकिन कुछ ही दिन बाद यूरोप का पहला महायुद्ध शुरू हो गया और इसके साथ ही कमाल के भाग्य ने भी पलटा खाया। इधर तो १६१५ ई० में रूसी सेना के मुकाबले में काकेशस के हिमाच्छादित

पहाड़ों में अनवर की तुर्की सेना के तीन चौथाई से भी अधिक सिपाही ठंड के मारे खेत रहे, इधर कमाल ने एक बड़ी शानदार विजय प्राप्त की। उसने अंग्रेज़ों के कुस्तुन्तुनिया और दर्रे दानियाल पर कब्ज़ा करने के प्रयत्न को विफल कर दिया और गैलीपोली के प्रायद्वीप में उतारी गई अंग्रेज़ी फौज को हारकर वापस लौटने के लिए विवश कर दिया।

यह विजय प्राप्त करके कमाल जब कुस्तुन्तुनिया वापस आया तो उसका बड़ा स्वागत किया गया। इस पर अनवर ने क्रोधित होकर उसे काकेशस के रूसी मोर्चे पर भेजा, जहां वह स्वयम् असफल रहा था और जहां रूसी फौजों के सामने तुर्की की पराजय साफ नज़र आ रही थी। परन्तु कमाल की भाग्य-लक्ष्मी ने यहां फिर उसका साथ दिया। रूस में १६१७ ई० की राज्य-क्रांति के फलस्वरूप रूसी फौजों में गड़बड़ फैल गई और कमाल की विजय का मार्ग साफ़ हो गया।

मित्र-राष्ट्रों से टक्कर

कमाल की बढ़ती हुई लोक-प्रियता अनवर को भला कब सहन हो सकती थी। उसने कमाल को जनरल लीमान के मातहत सीरिया के मोर्चे पर अंग्रेजी फ़ौजों का मुक़ाबला करने के लिए भेजा। कमाल ने उनको रोकने का बहुत प्रयत्न किया पर १६ अगस्त १६१८ ई० को अंग्रेजी फौजों ने तुर्की को पराजित करके कुस्तुन्तुनिया पर धावा बोल दिया। महा-युद्ध के समाप्त होते-होते कुस्तुन्तुनिया पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया और उन्होंने सुल्तान अब्दुल हमीद के भतीजे वाहिद्दीन को तुर्की का सुल्तान मान लिया। इधर अनवर देश छोड़ कर भाग गया और उसकी 'एकता और उन्नति' कमेटी की भी इति हो गई।

महायुद्ध के समाप्त होते ही कमाल ने तुर्की को मित्र-राष्ट्रों के पंजे से छुड़ाने के लिए मित्र-राष्ट्रों के विरोध में एक देश-व्यापी आंदोलन चलाया। साथ ही उसने अंगोरा में एक राष्ट्रीय सरकार स्थापित करके सुल्तान की इंग्लैंड-रक्षित कमज़ोर सरकार को चुनौती दे दी।

कमाल की इन कार्रवाइयों से मित्र-राष्ट्रों का ध्यान तुर्की की ओर

आकर्षित हुआ और उन्होंने १६२० ई० में तुर्की के लिए शांति की शर्तों का मसविदा प्रकाशित कर दिया। ये शर्तें इतनी कठोर थीं कि सारे संसार के मुसल्मानों में विरोध की लहर दौड़ गई। भारत में भी खिलाफत के आंदोलन द्वारा इसका कड़ा विरोध किया गया। कमाल तुरन्त एक सेना तैयार करके कुस्तुन्तुनिया की ओर चल पड़ा। किन्तु मित्र-राष्ट्रों की सहायता में व अपना साम्राज्य स्थापित करने के प्रलोभन से यूनानियों ने तुर्की के सारे योरुपीय भाग पर अधिकार जमा लिया। अंगोरा-स्थित कमाल को हराने के लिए उन्होंने स्मर्ना पर एक बड़ी फौज उतारी, जिसने अंगोरा से कुछ ही दूर इस्का शहर के पास पड़ाव डाल दिया।

कमाल की अद्भुत सैनिक प्रतिभा

कमालके पास न तो तालीम पाई हुई काफी फौज थी, न लड़ाई का सामान और न रसद। बड़ी विकट और संकटापन्न स्थिति थी, पर वह तनिक भी विचलित न हुआ। हानि पर हानि सहता हुआ भी वह आगे बढ़ती हुई यूनानी फौजों का मुकाबला करता चला गया और अन्त में उसने दो सौ मील पीछे हट कर सकरिया नदी के पीछे अपनी अन्तिम रक्षा-पंक्ति बनाई।

२४ अगस्त १६२१ ई० को यूनानियों और तुर्कों के बीच जो भयंकर और लोमहर्षण युद्ध हुआ वह तुर्की के इतिहास की एक महत्त्व-पूर्ण घटना है। इस युद्ध में ईसाइयत और इस्लाम की पुरानी धार्मिक शत्रुता एक दूसरे से बदला लेने की भावना से प्रेरित होकर जान पर खेल रही थी। कमाल के अद्भुत सैन्य-संचालन के सामने यूनान की सुसज्जित सेना की एक न चली और उसे पीछे हटना पड़ा।

जब इस विजय-लक्ष्मी के साथ कमाल अंगोरा लौटा तो चारों ओर से उसे बधाइयां मिलने लगीं। उसके देश-वासियों ने उसे ग़ाज़ी की उपाधि से विभूषित किया। लेकिन ग़ाजी मुस्तफ़ा कमाल पाशा जानता था कि जबतक वह यूनानियों को वापस समुद्र में न ढकेल दे तबतक वह निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सकता। लगभग एक साल की तैयारी के बाद २६ अगस्त

१९२२ ई० को उसने अपनी सेना यूनानियों के सामने लाकर खड़ी कर दी और उसे आज्ञा दी—"आगे बढ़े चलो ! तुम्हारा लक्ष्य भूमध्य सागर है"। तुर्कों के जोश और उत्साह के सामने यूनानियों के दांत खट्टे हो गए और उनकी फौज तितर-बितर होकर समुद्र की ओर भाग निकली। स्मर्ना पर फिर कमाल का अधिकार हो गया। फिर फ्रांस की मध्यस्थता से सन्धि का पैग़ाम आ गया और मुदानिया की कान्फ्रेंस में मित्रराष्ट्रों ने कमाल की लगभग सारी शर्तें स्वीकार कर लीं। तुर्की फिर एक स्वतन्त्र और सत्ताधारी राष्ट्र बन गया।

कमाल तुर्की का डिक्टेटर बना

अब कमाल ने निकम्मे वाहिद्दीन से अधिकार छीनने के लिए एक राजनैतिक चाल खेली। उसने असेम्बली में बड़ी चालाकी से विरोधियों पर आतंक जमाकर तुर्की की बादशाहत को समाप्त करने का प्रस्ताव पास करा लिया और उसके कुछ ही दिन बाद कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करके वाहिद्दीन को गद्दी से उतार दिया और उसकी जगह अब्दुल मजीद खलीफा बनाया गया।

अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए कमाल ने 'लोक-दल' के नाम से एक राजनैतिक संगठन स्थापित किया। दल का संगठन पूरा होते ही कमाल ने असेम्बली में फिर एक चाल खेली। उसने ऐसी तरकीब की कि जिस दल के हाथ में शासनाधिकार था उसे स्तीफा देना पड़ा और बाद में आपसी मतभेद के कारण कोई सरकार ही नहीं बन सकी। ऐसी डांवा-डोल स्थिति में एक दिन लोक-दल के एक सदस्य कमालुद्दीन ने असेम्बली में प्रस्ताव रख दिया कि कमाल से सरकार बनाने के लिए कहा जाय। इस पर सब लोग सहमत होगए और कमाल को बुलाया गया। उसने आते ही यह घोषणा की कि वह एक ही शर्त पर शासनाधिकार संभालने को तैयार हो सकता है। वह यह कि तुर्की को प्रजातन्त्र राष्ट्र बना दिया जाय और वह स्वयं उसका प्रथम प्रेसीडेन्ट हो। असेम्बली के लोग इतने दिन के झमेलों से तंग आचुके थे और उन्हें कोई मार्ग

नजर नहीं आ रहा था। अतः उन्होंने कमाल के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। प्रधान सेनापति तो वह पहले ही से था, अब प्रेसीडेन्ट बन जाने पर वह तुर्की का एक सर्वाधिकारी नेता यानी डिक्टेटर होगया।

तुर्की का पुनरुद्धार

अधिकार और शक्ति दोनों हाथ में आजाने पर कमाल ने तुर्की के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया। उसे अनुभव हुआ कि जब तक तुर्की में से मजहबी अन्ध-विश्वासों को न हटाया जायगा तब तक तुर्की आधुनिक सभ्य राष्ट्रों की गिनती में न आ सकेगा और उसकी स्वतन्त्रता को हमेशा खतरा बना रहेगा। उसकी राय में इस मजहबी कट्टरता को हटाने का यही उपाय था कि मजहब को राजनीति से बिलकुल पृथक कर दिया जाय। इससे पहले ही उसने तुर्की स्त्रियों का परदा तोड़ दिया था और स्त्री-पुरुषों के सम्मिलित नाच जारी कर दिए थे। अब उसने इस्लाम की रूढ़ियों के विरुद्ध प्रचार शुरू किया। इससे देश के सारे मुल्ला और दरवेश उसके विरोधी होगए और उसे इस्लाम का शत्रु बतला कर जनता को भड़काने लगे। इसका प्रतिकार करने के लिए कमाल ने खलीफा पर देशद्रोह का आरोप लगाया और यह कहा कि विरोधी लोग अंग्रेजों के एजेन्ट हैं, जो देश को उनके हाथ बेच देना चाहते हैं। कमाल के प्रचार से जनता फिर उसके पक्ष में होगई और सेना भी उसका साथ देने को तैयार हो गई।

खिलाफत का अन्त

१६२४ ई० में उसने पार्लमेंट में बिल पेश किया कि खिलाफत का सदा के लिए अन्त कर दिया जाय। पार्लमेंट के बहुत से सदस्यों ने इसका विरोध किया पर कमाल की धमकी से सब चुप हो गए और बिल निर्विरोध पास होगया। उसी रात इस्तम्बोल (कमाल ने कुस्तुन्तुनिया का नाम बदल कर इस्तम्बोल और अंगोरा का अंकारा कर दिया और अंकारा को राजधानी बनाया) के गवर्नर के पास आज्ञापत्र भेज दिया गया कि खलीफा को गद्दी से उतार कर तुर्की से बाहर निकाल दिया

जाय। बेचारा अब्दुल मजीद चुपचाप स्विट्जरलैण्ड को लाद दिया गया और इस तरह तुर्की में खिलाफत का बिलकुल अन्त होगया।

धार्मिक और राजनैतिक सुधार

तुर्की को स्वतन्त्र राष्ट्र बना कर कमाल ने सारी शक्ति अपने हाथ में तो ले ली पर अभीतक तुर्कों में राष्ट्रीयता के भाव जागृत नहीं हो पाये थे। अतः कमाल ने उनकी सारी विचार-धारा को ही बदल डालने का निश्चय कर लिया। उसने सब पुरानी रूढ़ियों के विरुद्ध जिहाद बोल दिया और तुर्कों के रीति-रिवाज, वस्त्र, आचार-व्यवहार इत्यादि सबको नियन्त्रित करना आरम्भ कर दिया। सबसे पहले उसने यह ऐलान किया कि लाल तुर्की टोपी गुलामी की निशानी है, इसलिए इसे छोड़कर सब तुर्क लोग टोप पहनें। जब लोगों ने उसकी बात न मानी तो उसने तुर्की टोपी लगाना एक जुर्म घोषित कर दिया और इस आज्ञा का उल्लंघन करने वालों को पकड़-पकड़ कर जेल में डलवा दिया। इसके विरोध में तुर्की में जगह-जगह दंगे होने लगे, पर कमाल ने कुछ परवाह न की और विरोधियों को दण्ड देने के लिए फौजें भेज दीं। लोगों के सिरों पर से तुर्की टोपियां उतार-उतार कर फेंक दी गईं और कितने ही कट्टर-पन्थियों को फांसियां दे दी गईं। नतीजा यह हुआ कि तुर्की टोपी का नाम निशान भी बाकी न रहा और टोपों की इतनी मांग हुई कि कबाड़ियों ने फटे पुराने टोपों के खूब दाम खड़े किये। आतंक यहां तक फैला कि मर्दाने टोपों के अभाव में लोग ज़नाने टोप ही पहन कर निकलने लगे।

इसके बाद उन्होंने पुराने इस्लामी कानूनों के स्थान पर योरप के राष्ट्रों की तरह के नये-नये कानून जारी किये, बहुविवाह और स्त्रियों को घरों में बन्द रखने की प्रथाओं को बन्द किया और हर बालिग़ स्त्री-पुरुष को वोट का अधिकार दिया। उसने मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीत और नाच का प्रचार किया, जिन्हें इस्लाम में शरिअत के खिलाफ समझा जाता था।

तुर्की भाषा का प्रचार

भाषा भी देश के लोगों में राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाने का बड़ा साधन है। अतः कमाल ने तुर्की भाषा का भी सुधार किया। उसने तुर्की भाषा में से अरबी और फ़ारसी के शब्दों को छंटवा कर अलग कर दिया। फ़ारसी लिपि को हटाकर उसके स्थान पर लेटिन लिपि को जारी किया। यहांतक कि कुरान शरीफ़ का अनुवाद भी तुर्की भाषा में करा डाला। और नमाज़ उसी भाषा में पढ़ी जाने लगी। मतलब यह कि उसने तुर्कों में अपने देश की प्रत्येक वस्तु के लिए गौरव और स्वाभिमान उत्पन्न कर दिया। इनके अलावा कमाल ने और भी अपनी दृष्टि से कितने ही छोटे-मोटे सामाजिक तथा राजनैतिक सुधार किये। उसने सरकारी नौकरियों का ढंग ठीक किया और सेना का पुनः संगठन करके उसे खूब सुसज्जित और कार्यकुशल बना दिया।

इस तरह थोड़े ही समय में तुर्की की कायापलट करके कमाल ने नवम्बर १६३८ ई० में मानव-लीला संवरण की। उसके कारण तुर्की का एक नया ही जन्म हुआ। इसलिए उसे 'अतातुर्क' अर्थात् 'तुर्की के पिता' की उपाधि दी गई।

जीवन पर एक दृष्टि

कमाल का जीवन विद्रोह और संघर्ष की जीती-जागती कहानी है। बचपन में उसने माता-पिता और शिक्षकों के अंकुश से विद्रोह किया। युवावस्था में निरंकुश शासन से विद्रोह किया और अन्तिम अवस्था में धर्मान्धता और रूढ़िवाद से। शारीरिक व्याधियों के साथ तो उसका संघर्ष जीवन भर चलता रहा और कहना चाहिए कि उसका सारा जीवन युद्ध में ही बीता। जब उसने तुर्की के स्वतन्त्रता-युद्ध से मुक्ति पाई तो धार्मिक कट्टरता और अन्धविश्वासों के विरुद्ध जिहाद बोल दिया। सौभाग्य से उसे सब युद्धों में सफलता ही मिली।

कमाल जैसी बहुमुखी-प्रतिभा वाले महापुरुष संसार के इतिहास में इने गिने ही मिलेंगे। जहां एक ओर उसमें सेना-संचालन की अद्भुत

शक्ति थी वहां वह एक कुशल राजनीतिज्ञ भी था। साथ ही वह धार्मिक और सामाजिक सुधारक भी पहले दर्जे का सिद्ध हुआ, यद्यपि यह सुधार उसने तलवार के बल पर किये। दर्रेदानियाल से अंग्रेज़ी फौजों को हटाने में उसने अपने जर्मन सेनापति लीमान की सलाह के विरुद्ध जो सफलता प्राप्त की वह उसकी असाधारण सैनिक सूझ की परिचायक है। यूरोपीय राष्ट्रों के यूरोप के नक्शे से तुर्की का निशान मिटा देने के इरादे को कमाल ने जिस तरह असफल कर दिया वह उसकी राजनैतिक दूरदर्शिता का द्योतक है और तुर्की को एक आधुनिक प्रगतिशील राष्ट्र बना देना उसकी सुधारक प्रकृति का ज्वलन्त उदाहरण है।

गुण-दोष-विवेचन

तुलसीदास ने रामायण में एक स्थान पर कहा है—

"जड़चेतन गुनदोसमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार" ॥

वैसे तो किसी के भी चरित्र की आलोचना करते समय हमें तुलसीदास की यह उक्ति ध्यान में रखनी चाहिए पर कमाल के चरित्र की विवेचना करते समय तो विशेष तौर पर। क्योंकि व्यक्तिगत जीवन में कमाल भी भारतीय दृष्टि से दुराचारी कहा जा सकता है। वह जुआ खेलता था, शराब खूब पीता था और व्यभिचारी भी था। स्त्रियों को वह केवल उपभोग की वस्तु समझता था। उसके जीवन में दो स्त्रियों ने महत्त्वपूर्ण पार्ट खेला। फिकरिये नाम की युवती उससे प्रेम करती थी पर अन्त में उसने निराश होकर आत्महत्या कर ली। लतीफा से कमाल का प्रेम हुआ और दोनों का विवाह भी हो गया। पर एक-रस होकर रहना कमाल की प्रकृति में ही नहीं था। इन सब दुर्बलताओं के होते हुए भी कमाल का जो जाज्वल्यमान सार्वजनिक चित्र हमारे सामने आता है उसी पर हमारी दृष्टि रहनी चाहिए और वही हमारे काम की वस्तु हो सकती है। फिर भी किसीके दोषों और अवगुणों से तो हम यही शिक्षा लें कि ईश्वर इनसे हमें बचावे। कमाल के चरित्र में खूबी यह है कि उसने इन

व्यसनों को कभी अपने ऊपर हावी होने और कर्तव्य-मार्ग से विचलित होने नहीं दिया।

कमाल की जीवट, दृढ़ संकल्प और आत्म-शक्ति का प्रमाण इस बात से मिलता है कि उसके शरीर में अनेक विषम व्याधियों के रहते हुए भी वह मौत से लड़ता रहा और शारीरिक कष्टों की उसने तनिक भी परवा न की।

शत्रुओं के प्रति कमाल का व्यवहार बड़ा ही निर्दय और कठोर रहा। उसने अपने विरोधियों को सदा मौत के घाट उतार कर चाणक्य के इस उपदेश का अनुकरण किया, "अग्नि को और वैरी को निःशेष ही कर देना चाहिए।"

: १२ :

आर्किमिदीज़

आज से दो हज़ार वर्ष से भी पहले की बात है। एक दिन साइराक्यूज़ नगर के निवासियों ने चकित होकर देखा कि एक नंग-धड़ंग मनुष्य "मिल गया" "मिल गया" चिल्लाता हुआ बीच बाज़ार दौड़ा चला जा रहा है। लोगों ने समझा कोई पागल होगा। परन्तु जब उन्हें पता लगा कि यह प्रसिद्ध गणितज्ञ आर्किमिदीज़ था, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

आर्किमिदीज़ के क्षणिक पागलपन की यह कथा संसार के इतिहास में निराली है। इस घटना से सिद्ध होता है कि इस प्राचीन वैज्ञानिक का मस्तिष्क जब किसी समस्या के हल करने में लग जाता था तो उसे तन-बदन की भी सुध नहीं रहती थी। यहांतक कि यही तल्लीनता अन्त में उसकी मृत्यु का भी कारण बनी।

जीवन कथा

आर्किमिदीज़ का पिता फीडियस यूनान का रहने वाला था और खगोल-विद्या का पंडित था। वह इटली के दक्षिण-वर्ती द्वीप सिसिली के साइराक्यूज़ नगर में रहता था। यहीं लगभग बाईस सौ वर्ष पूर्व आर्किमिदीज़ का जन्म हुआ था।

इतने प्राचीन समय के धुंधले इतिहास में मुख्य घटनाओं के सिवा छोटी-मोटी बातों का पता लगाना असम्भव है। अतः आर्किमिदीज़ के व्यक्तिगत जीवन के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। ईसा की प्रथम शताब्दी में प्लूटार्क द्वारा रचित जीवनियों से ही कुछ हाल मालूम होता है।

आर्किमिदीज़ ने मिस्र देश के सिकन्दरिया नगर में शिक्षा पाई और

युवावस्था तक वहीं रहा। इसके बाद वह साइराक्यूज़ लौट आया। वह साइराक्यूज़ के राजा हीरो का मित्र था, या यों कहना चाहिए कि उसकी सभा का एक रत्न था।

आर्किमिदीज़ का सिद्धान्त

विज्ञान की पुस्तकों में आर्किमिदीज़ का सिद्धांत एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वैज्ञानिक महत्त्व के अलावा इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी कम नहीं है, क्योंकि बाज़ार में नंगा दौड़ने की घटना का इसीके साथ सम्बन्ध है।

कहते हैं कि हीरो का ताज जब बन कर आया तो उसे संदेह हुआ कि सुनारों ने उसके सोने में कुछ मिलावट कर दी है। आर्किमिदीज़ तो उसकी सभा में था ही, और उसकी असाधारण प्रतिभा के प्रमाण भी तबतक काफी मिल चुके थे, अतः उसीको यह काम सौंपा गया कि ताज के सोने में मिलावट का पता लगावे।

उस जमाने में कदाचित कसौटियां न रही होंगी, या सम्भव है हीरो ने यह जानना चाहा हो कि मिलावट की ठीक तोल कितनी है। वैसे तो आज आर्किमिदीज़ का सिद्धांत पुस्तकों में लिखा रहने पर भी हर एक व्यक्ति यह नहीं बता सकता कि किसी धातु में मिलावट है या नहीं। इसलिए उस प्राचीनकाल में जब विज्ञान के कोई सिद्धांत निश्चित नहीं थे, यदि आर्किमिदीज़ को इस समस्या पर रातें गुजारनी पड़ी हों तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। आठ पहर चौंसठ घड़ी यही समस्या उसके मस्तिष्क में चक्कर काटती रही थी।

"मिल गया"—"मिल गया"

एक दिन इसी विचार में मग्न आर्किमिदीज़ सार्वजनिक हम्माम में स्नान करने गया। वह कपड़े उतार कर भरे हुए टब में उतरा कि टब का कुछ पानी बाहर निकल गया। बस उसके उपजाऊ मस्तिष्क ने तुरंत इस तथ्य को पकड़ लिया और वह "यूरेका" "यूरेका" कहता हुआ, नंगा ही

घर की ओर दौड़ चला। उसके प्रसिद्ध सिद्धांत की जन्मकथा यहीं से आरम्भ होती है।

सिद्धांत की व्याख्या

आर्किमिदीज़ का सिद्धांत यह बतलाता है कि कोई वस्तु पानी में डुबोई जाती है तो एक तो बरतन का पानी कुछ ऊपर उठ जाता है और दूसरे उस वस्तु का भार कुछ कम प्रतीत होता है। इन दोनों में यह सम्बंध है कि वस्तु का भार उतना ही कम होता है जितना पानी ऊपर उठता है। पानी और पानी की तरह सारे तरल पदार्थ वस्तुओं को ऊपर उछालते हैं, इसीलिए उनमें डालने पर वस्तुओं का भार कम मालूम पड़ता है। तरल पदार्थों की यह उछाल वस्तु के फैलाव पर निर्भर होती है। अगर वस्तु खूब फैली हुई हो तो उस पर पानी की उछाल अधिक होजाती है और वह तैरती रहती है। उदाहरण के लिए लोहे का टुकड़ा तो पानी में डूब जाता है पर उसे फैलाकर नाव के आकार का बना दिया जाय तो वह तैरने लगता है। जो वस्तुएं हलकी होती हैं उनका फैलाव भारी वस्तुओं से अधिक होता है।

सोने में मिलावट

सोना दो-एक दुष्प्राप्य धातुओं के सिवा सबसे भारी वस्तु है। इसलिए दूसरी हलकी धातुओं की अपेक्षा इसपर पानी की उछाल कम होती है अर्थात् अगर एक ही तोल के सोने और तांबे के टुकड़े पानी में डाले जायं तो तांबे के टुकड़े पर पानी की उछाल अधिक होगी। इस तरह पानी में तोलने पर सोने और तांबे का भेद स्पष्ट हो जाता है। यदि सोने में मिलावट हो तो मिली हुई वस्तु पर भी पानी की उछाल असली सोने से अधिक होती है।

मान लीजिए हमें अपने सोने के बटनों की परीक्षा करनी है। पहले तो हम बटनों को कांटे में तोल कर उनका वज़न मालूम करेंगे। फिर उनको एक डोरे में बांधकर कांटे के पलड़े से लटका देंगे और पानी का गिलास पलड़े के नीचे इस तरह से रखेंगे कि बटन पानी में डूबे रहें।

अब पानी में लटके हुए बटनों को तोल लेंगे जिससे पता लग जायगा कि कितना वज़न कम हुआ। इसके पश्चात् हम बटनों की तोल के बराबर असली सोने का टुकड़ा लेकर उसे भी पानी में तोलेंगे। अगर इसका भी वज़न उतना ही कम होता है तो बटन असली सोने के हैं, वरना उनमें मिलावट है। हिसाब लगाकर यह भी बताया जा सकता है कि इस मिलावट का परिमाण क्या है। परन्तु यह प्रयोग केवल ठोस वस्तुओं पर ही किया जा सकता है।

आर्किमिदीज़ ने इसी ढंग से हिसाब लगाकर हीरो के ताज की परीक्षा की थी।

यान्त्रिक आविष्कार

आर्किमिदीज़ के यान्त्रिक आविष्कार भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उनमें यन्त्रशास्त्र के वे सिद्धान्त निहित हैं जिनके प्रयोग से आधुनिक युग की बड़ी-बड़ी मशीनें बनी हैं। मशीन का सरलतम रूप "लीवर" या बोझा सरकाने की हलवानी, माना गया है। इसके सिद्धान्त का तात्विक विवेचन और व्यावहारिक उपयोग सबसे पहले आर्किमिदीज़ ने ही किया, ऐसा माना जा सकता है। इसीके आधार पर उसने बड़े-बड़े बोझों को उठाने और सरकाने वाली घिर्रियां बनाईं, जिनका आधुनिक रूप हमें क्रेन मशीनों में देखने को मिलता है।

हीरो के बड़े जहाज़ के पेंदे में भर जाने वाले पानी को उलीचने के लिए आर्किमिदीज़ ने एक यन्त्र बनाया था जो 'आर्किमिदीज़ स्क्रू' के नाम से प्रसिद्ध है। यह यन्त्र लम्बे ढोल की तरह होता है, जिसके भीतर चौड़ी चूड़ियों वाला एक पेचनुमा डंडा लगा रहता है। ढोल का नीचे का सिरा पानी में डुबाकर डंडे को घुमाने से पानी एक चूड़ी से दूसरी चूड़ी पर चढ़ता चला जाता है। आजकल नाज के गोदामों में नाज को ऊपर चढ़ाने के लिए इसी प्रकार के यन्त्र का उपयोग किया जाता है।

साइराक्यूज का घेरा

उस समय भूमध्यसागर के तटवर्ती यूनान इत्यादि देश अनेक छोटे-

छोटे जातीय-राज्यों में विभक्त थे और इनमें परस्पर युद्ध रहा करते थे। ऐसे समय में हीरो ने बड़ी दूरदर्शिता का काम किया। उसने आर्किमिदीज़ से रक्षात्मक और आक्रमणकारी दोनों प्रकार के युद्ध के लिए यांत्रिक साधन तैयार करने की प्रार्थना की। यद्यपि आर्किमिदीज़ का सारा समय गणित-शास्त्र की गवेषणाओं में ही व्यतीत होता था और विज्ञान के व्यावहारिक उपयोगों में उसे बिल्कुल रुचि न थी परन्तु अपने देश के हितार्थ उसे रणक्षेत्र में उतरना पड़ा। अतः जब रोमन सेनापति मार्सिलस ने साइरक्यूज़ पर चढ़ाई की तो उसका स्वागत करने के लिए सिसिली के तट पर आर्किमिदीज़ के निर्माण किये हुए अनेक भीमकाय यंत्र पहले से ही तैयार खड़े थे। कुछ यंत्र लकड़ी की बड़ी-बड़ी सोटें उछाल-उछाल कर इस ज़ोर से फेंकते थे कि जिस जहाज पर वे गिरतीं वह लड़खड़ा कर समुद्र की तह में चला जाता। कुछ यंत्रों में से बड़े-बड़े आंकड़े निकल कर मार्सिलस के जहाज़ों को ऊपर उठा-उठा कर फेंक देते या उन्हें तेज़ी से घसीट कर किनारे पर टकरा देते। आर्किमिदीज़ के यंत्रों ने मार्सिलस के कुशल से कुशल इंजीनियरों को चकरा दिया और उनकी सारी तरकीबों को व्यर्थ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि सारी रोमन सेना पर आर्किमिदीज़ का आतंक छा गया और मार्सिलस को घबराकर साइराक्यूज का घेरा उठाना पड़ा। अब उसने दूर से ही सिसली द्वीप की नाकेबन्दी करके रसद इत्यादि का जाना रोक दिया।

साइराक्यूज का पतन

आर्किमिदीज़ के यंत्र-कौशल ने तीन साल तक मार्सिलस को साइराक्यूज़ के पास न फटकने दिया। परन्तु अन्त में मार्सिलस ने युद्ध-कौशल के बजाय धोखेबाज़ी का सहारा लिया और साइराक्यूज़ पर विजय प्राप्त कर ली।

आर्किमिदीज की मृत्यु

मार्सिलस ने साइराक्यूज़ में पदार्पण करते ही आर्किमिदीज़ से मिलने की इच्छा प्रकट की। यद्यपि इस अकेले व्यक्ति ने अपनी वैज्ञानिक बुद्धि

से तीन साल तक मार्सिलस को छकाया था, परन्तु मालूम होता है कि रोमन सेनापति में गुणग्राहकता की प्रचुर-मात्रा थी। वह इस असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति का सम्मान करना चाहता था। परंतु जो उद्दंड सैनिक आर्किमिदीज़ को लिवाने भेजा गया उसे मार्सिलस की इस आन्तरिक-भावना का ज्ञान न था। उसकी दृष्टि में तो वह एक घोर दंडनीय अपराधी था। उसके लिए तो यह आज्ञा ही सब कुछ थी कि 'आर्किमिदीज़ को बुला लाओ'।

जिस समय मार्सिलस का यह हरकारा आर्किमिदीज़ के यहां पहुंचा उस समय यह महान् गणितज्ञ, युद्ध के परिणाम से बिल्कुल अपरिचित और उदासीन, गणित की एक उपपत्ति को सिद्ध करने में तल्लीन था। सैनिक ने अपनी फौजी आज्ञा सुनाई—"सेनापति ने तुमको बुलाया है।" "कौन सेनापति और कैसा बुलावा ?" अपनी धुन में मस्त आर्किमिदीज़ ने बिना सिर उठाये शायद कह दिया हो—"चले जाओ, मैं इस समय गणित का प्रश्न हल कर रहा हूं।"

फौजी आज्ञा का उल्लंघन भला सैनिक को कैसे सहन हो सकता था। उसे तो आर्किमिदीज़ को लेजाने की आज्ञा मिली थी। जीवित या मृत, इससे उसे कोई सरोकार न था। उसने तुरंत अपनी तलवार आर्किमिदीज़ के हृदय में घुसेड़ दी और उसकी समस्या को सदा के लिए हल कर दिया।

प्लूटार्क लिखता है कि जब मार्सिलस ने आर्किमिदीज़ की हत्या का समाचार सुना तो उसे बहुत क्षोभ हुआ। उसने उस हत्यारे सैनिक की ओर देखना भी न चाहा। परन्तु अब क्या हो सकता था। मार्सिलस ने इस पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए आर्किमिदीज़ की अन्त्येष्टि बड़े सम्मानपूर्वक कराई और उसके कुटुम्बियों को भी धन और मान प्रदान किया।

महान गणितज्ञ

आर्किमिदीज़ के समकालीन उसे एक आविष्कारक के रूप में देखते

थे। मुख्यतः उसके यांत्रिक-प्रयोग ही उसको तत्कालीन-कीर्त्ति का कारण थे। परन्तु आधुनिक विज्ञान-वेत्ता आर्किमिदीज़ को एक महान गणितज्ञ मानते हैं जिसकी गवेषणाओं से यंत्र-विज्ञान को काफ़ी सहायता मिली है। वास्तव में आर्किमिदीज़ स्वयं भी अपने-आपको गणित-शास्त्र के पथ का पथिक ही समझता था। यांत्रिक आविष्कार तो उसकी प्रतिभा का एक गौण पहलू थे। इन आविष्कारों के लिए उसके हृदय में न कोई गौरव था और न महत्त्व। यहांतक कि उसने उनको लिपि-बद्ध करने और उनका श्रेय प्राप्त करने तक से इन्कार कर दिया। कदाचित् वह विज्ञान के इस भौतिक उपयोग को शुद्ध विज्ञान के महान उद्देश्य की भावना के विरुद्ध समझता था। प्लूटार्क लिखता है—

"वह यंत्र-शास्त्र और साधारण उपयोग की वस्तुएं निर्माण करने वाली प्रत्येक कला पर ध्यान देना एक हीन और घृणित बात समझता था। उसे पूरा आनन्द उन मानसिक कल्पनाओं में मिलता था जिनका जीवन की आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु जिनमें सत्य और उसके प्रयोग से उत्पन्न होने वाली आन्तरिक श्रेष्ठता अन्तर्हित रहती है।"

आर्किमिदीज़ ने गणित-शास्त्र पर जो रचनाएं की हैं उनका महत्त्व आज भी कम नहीं है। कहते हैं कि प्राचीन वैज्ञानिकों में यही एक है जिसकी खोजों के परिणाम इतने सुलझे हुए रूप में हमारे सामने आते हैं।

आर्किमिदीज़ के जीवन का एक ही लक्ष्य था—निरपेक्ष विज्ञान-साधना।

———

: १३ :

न्यूटन

Nature and Nature's laws lay hid in night
God said : 'Let Newton be' and all was light.
—Pope,

[प्रकृति और उसके नियम अंधेरे में छिपे पड़े थे। ईश्वर ने कहा 'न्यूटन का जन्म हो' और सर्वत्र प्रकाश फैल गया।]

हमारे सामने प्रतिदिन अनेक भौतिक घटनाएं होती रहती है। उन्हें देखकर कभी-कभी हमें कौतूहल अवश्य होता है, पर ऐसे कितने मनुष्य हैं जिनकी कल्पना-शक्ति साधारण बातों से जागृत होजाती है और वे प्रकृति के रहस्यों को खोलने में संलग्न होजाते हैं। हम देखते हैं कि ऊपर से छोड़ी जाने वाली वस्तुएं सदा पृथ्वी की ओर ही गिरती हैं, पर पेड़ से टूटकर गिरने वाले एक सेब ने न्यूटन के मस्तिष्क में वह विचार उत्पन्न कर दिया जिसके फल-स्वरूप उसने सारे आकाश-पिंडों की गति का नियम खोज निकाला। किसी कवि ने ठीक कहा है—

स्रावन नयन मुख नासिका सब ही के इक ठौर।
कहिबौ सुनिबौ देखिबौ चतुरन को कछु और॥

सर आइजक न्यूटन की गिनती संसार के उन गिने-चुने महान वैज्ञानिकों में है जिनका नाम सदा के लिए अमर होगया है। लेकिन इतना ही नहीं; न्यूटन का चरित्र भी एक ऐसी कहानी है, जिससे हम स्फूर्त्ति ग्रहण कर सकते हैं।

होनहार बालक

१६४२ ई० का बड़ा दिन (२५ दिसम्बर) न्यूटन का जन्म-दिवस है।

मानो विधाता ने महात्मा ईसा की जन्मतिथि पर न्यूटन को जन्म देकर पहले ही यह जतला दिया हो कि यह भी संसार-व्यापी कीर्तिवाला होगा।

न्यूटन का जन्म इंग्लैंड के वूल्सथोर्प नामक गांव में हुआ था। इसकी माता का नाम हैना था। जन्म के तीसरे ही वर्ष इसके पिता का देहांत होगया और इसकी माता ने लिंकन शायर के एक पादरी बार्नेबास स्मिथ से दूसरा विवाह कर लिया। अतः न्यूटन को उसकी नानी मिसेज आइसकफ के संरक्षण में छोड़ दिया गया। नानी ने इसे स्कूल में तो बैठा दिया पर उसका यह लाड़ला धेवता पढ़ने-लिखने में बहुत पीछे रहने लगा। उसका अधिक समय छोटी-मोटी चीजें बनाने में जाता था। उसकी बनाई हुई वस्तुओं को देखकर लोग यही कहते थे कि यह आगे चलकर बड़ा कुशल कारीगर बनेगा। छोटी-सी उम्र में ही उसने पानी से चलने वाली एक घड़ी बना डाली और अपने बाग में एक धूप-घड़ी बनाकर लगा दी। एक दिन उसने अपने गांव में आटा पीसने की पवन-चक्की को देखकर उसी का एक छोटा-सा नमूना बना लिया।

ज्ञान-पिपासा का सूत्रपात

पढ़ने-लिखने में न्यूटन का मन बिलकुल नहीं लगता था, लेकिन एक घटना ने उसके जीवन की दिशा ही बदल दी। न्यूटन के स्कूल में एक नटखट लड़का था जो सबको तंग किया करता था और जिससे सब डरते थे। एकदिन उसने न्यूटन को सीधा-साधा और कमजोर समझकर अपना शिकार बनाया। लेकिन जब न्यूटन ने उसे धर-दबोचा तो सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। कहते हैं उसी दिन से न्यूटन में इतना आत्म-विश्वास पैदा होगया कि वह थोड़े ही दिनों में पढ़ाई में भी अपने सब सहपाठियों से आगे निकल गया। अब उसका समय गणित और विज्ञान की पुस्तकों के अध्ययन में बीतने लगा। रात को वह आकाश में तारों की ओर देखा करता और उनकी पूरी चाल इत्यादि के विषय में कल्पनाएं किया करता।

विद्याभ्यास

लेकिन उसके ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में एक बाधा आ पड़ी। जब वह चौदह वर्ष का हुआ तो उसके सौतेले पिता का देहान्त होगया और उसकी माता ने उसे स्कूल से उठाकर खेतीबाड़ी के काम में लगा दिया पर न्यूटन को तो दूसरी ही धुन लगी हुई थी। इधर भेड़ें तितर-बितर होजातीं और ढोर खेत चरा करते, उधर न्यूटन या तो किताबों में उलझा रहता या चाकू से लकड़ी के नमूने बनाया करता। जब उसके मामा ने यह हाल देखा तो उसने न्यूटन की माता को समझा बुझाकर उसे कैम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में भर्ती करा दिया। १६६१ ई० में उसने मैट्रिक का इम्तहान पास करके १६६५ ई० में बी० ए० की डिग्री प्राप्त कर ली। पढ़ने में न्यूटन की कितनी उत्कट लगन थी इसके विषय में एक कहानी प्रचलित है। एक दिन न्यूटन का मित्र डा० स्टूकले उससे मिलने आया। न्यूटन तो अध्ययन में लगा हुआ था और खाना मेज पर रक्खा हुआ ठंडा हो रहा था। स्टूकले ने न्यूटन का ध्यान बटाना उचित न समझा और कटोरदान में रक्खा हुआ खाना खाकर ढक्कन वैसा ही लगा दिया। थोड़ी देर बाद जब न्यूटन आया और उसने कटोरदान का ढक्कन उठाकर देखा तो कहने लगा, "अरे मैं तो समझा था मैंने खाना नहीं खाया, पर मालूम होता है मैं खाना खा चुका"। हजरत को पढ़ने के ध्यान में यह भी याद न रहा कि खाना खाया या नहीं?

असाधारण प्रतिभा

कालेज की शिक्षा समाप्त करने से पहले ही न्यूटन की असाधारण प्रतिभा चमकने लगी थी। जिस साल उसने डिग्री की परीक्षा पास की उसी साल गणित के एक महत्त्वपूर्ण नियम का आविष्कार किया और साल भर बाद १६६६ ई० में एक और नियम खोज निकाला। इसी साल अपने गांव वूल्सथोर्प के बाग में घूमते हुए एक सेब को पेड़ से गिरता देखकर उसे पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की कल्पना हुई और इसी आधार पर उसने आकाश के सारे पिंडों की गति का गुरुत्वाकर्षण-नियम

निकाला जो उसीके नाम से प्रसिद्ध है। लेकिन इस नियम को प्रकाश में लाने का श्रेय न्यूटन के साथी हेली को है जिसने उसे अपनी खोजों के परिणाम पुस्तक रूप में प्रकाशित करनेके लिए विवश किया। यह पुस्तक १६८७ ई० में प्रकाशित हुई।

१६६७ ई० में न्यूटन फिर केम्ब्रिज लौट आया और ट्रिनिटी कालेज का फैलो नियुक्त हुआ। यहां उसने प्रकाश की रचना के सम्बन्ध में खोज शुरू की और इसके विषय में अपनी कल्पना वैज्ञानिकों के सामने रक्खी जिस पर कई साल तक वाद-विवाद चलता रहा। उसने एक नई तरह की दूरबीन का भी आविष्कार किया।

पदों की प्राप्ति

केम्ब्रिज वापस आने के दो वर्ष बाद न्यूटन वहां गणित का प्रोफेसर हो गया और इसके दो वर्ष बाद वह इंग्लैंड की प्रमुख वैज्ञानिक संस्था रायल सोसाइटी का सदस्य बना लिया गया।

कुछ ही वर्ष बाद वह रायल सोसाइटी का प्रधान चुन लिया गया और पच्चीस वर्ष तक लगातार इस पद को सुशोभित करता रहा। कई बार वह यूनिवर्सिटी की ओर से पार्लमेन्ट का सदस्य भी निर्वाचित हुआ।

न्यूटन की आयु के लगभग दो वर्ष १६६२ से १६६४ तक एक कठिन रोग में बीते। उसे अनिद्रा रोग होगया और उसके मस्तिष्क की ऐसी हालत होगई कि लोगों ने समझा कि विक्षिप्त होगया है। परन्तु उसने पूर्ण आरोग्य लाभ किया और इंग्लैंड की सरकार ने उसकी खोजों के पुरस्कार रूप उसे टकसाल का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। १७०५ई० में इंग्लैण्ड की रानी ऐन ने उसे "सर" की उपाधि से विभूषित किया।

मृत्यु

१७२७ ई० में ८५ वर्ष की आयु में न्यूटन की मृत्यु हुई। उसे लन्दन के प्रसिद्ध वैस्ट मिनिस्टर अबे नामक गिर्जाघर में दफनाया गया जहां इंग्लैंड की अनेक विभूतियों की कबरें हैं।

चरित्र की विशेषताएं

साधारणतया न्यूटन का नाम संसार के एक महान वैज्ञानिक के रूप में लोगों के सामने आता है। पर न्यूटन वास्तव में एक महापुरुष था। उसके जीवन की कितनी ही ऐसी घटनाएं हैं जो उसकी महानता का परिचय देती हैं।

क्षमाशीलता

यदि कोई अनजाने में भी हमारा काम बिगाड़ दे तो हमें क्रोध आये बिना नहीं रहता। ऐसे क्रोध के आवेश में साधारणतया लोगों को विवेक नहीं रहता। लेकिन न्यूटन को देखिए। एक बार वह कुछ महत्त्वपूर्ण कागज मेज़ पर छोड़कर अपने कमरे से बाहर गया। कमरे में मोमबत्ती जल रही थी और उसका प्यारा कुत्ता डायमन्ड अंगीठी के पास सोया हुआ था। न मालूम कुत्ते को क्या सूझी कि वह एकदम उछला जिससे मोमबत्ती कागजों पर गिर पड़ी और वे जलकर राख होगए। न्यूटन जब वापस आया तो यह हालत देखकर एक क्षण के लिए स्तब्ध होगया। इन कागजों में उसकी प्रकाश-सम्बन्धी बीस वर्षों की खोजों के परिणाम लिखे हुए थे और इस समय उसकी आयु पचास तक पहुंच चुकी थी। लेकिन कुत्ता जब दुम हिलाता हुआ उसके पास आया तो उसने उसे थपथपाकर इतना ही कहा—"डायमन्ड तू नहीं जानता तूने मेरा कितना नुकसान कर दिया"। कहते हैं इस दुर्घटना का न्यूटन के स्वास्थ्य पर बहुत असर पड़ा, पर उसने कभी किसी से शिकायत नहीं की।

सादगी

न्यूटन के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सादगी और नम्रता।

वह अपने रहन-सहन, खान-पान और वेशभूषा में बहुत सादगी रखता था। उसका जीवन इतना नियमित था कि कई बार रोगाक्रान्त होने पर भी वह ८५ वर्ष की आयु तक जीवित रहा और अंत समय तक काम करता रहा। उसे कभी चश्मा लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ी

और इतनी आयु पर भी उसका केवल एक दांत गिरा था। उसकी सात्विक-वृत्ति का पता इसी बात से लग सकता है कि वह तम्बाकू तक नहीं पीता था।

परोपकारी स्वभाव

न्यूटन कहा करता था कि वास्तव में दान करना उसीका सार्थक है जिसने जीवन-भर दान किया हो। न्यूटन की आय का अधिकांश या तो कुटुम्बियों और दीन-जनों की सहायता में खर्च होता था या विद्या की उन्नति में। वह अतिथियों का बड़ा सत्कार करता था। स्वभाव भी उसका अत्यन्त दयाशील था।

नम्रता

न्यूटन की विनय और नम्रता का अंदाज उन शब्दों से लगाया जा सकता है जो उसने अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले कहे थे—"मैं नहीं जानता कि दुनिया मुझे क्या समझती है, परंतु मैं तो अपने आपको उस बालक के समान पाता हूं जो समुद्र के किनारे सीपियां और गुटके बीनता फिर रहा है, जब कि सत्य का अगाध और असीम समुद्र उसके सामने बिना खोजा हुआ पड़ा है"।

इसका अर्थ यही है कि न्यूटन को अपनी महानता का जरा भी गुमान नहीं था। वह सदा अपने को सत्य के मार्ग का एक तुच्छ पथिक समझता था। बड़े-बड़े सम्मानों और उपाधियों ने भी उसमें कभी गर्व की छाया तक नहीं आने दी। उसका जीवन विज्ञान और आध्यात्मिकता का एक ऐसा समन्वय था जिसका उदाहरण इस भौतिकवाद के युग में मिलना कठिन है।

: १४ :

"जादूगर" एडिसन

जो असाधारण घटनाएं अथवा वस्तुएं हमारे दैनिक जीवन के अनुभवों का व्यति-क्रम करती हैं तथा जिनका रहस्य हमारी समझ में नहीं आता उन्हें हम चमत्कार या "जादू" कहने लगते हैं और इन चमत्कारों को दिखलाने वाला जादूगर समझा जाता है। छोटी-सी गुठली से कालान्तर में आम का बड़ा-भारी वृक्ष उत्पन्न हो जाना और उसका फूलना-फलना हमारी दृष्टि में कोई चमत्कार नहीं क्योंकि यह घटना हमारे साधारण अनुभव की बात है। किन्तु यदि कोई बाज़ीगर ५-१० मिनट में आम का पेड़ जमा कर दिखला देता है तो हम उसके चमत्कार से आश्चर्य-चकित हो जाते हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक टॉमस अल्वा एडिसन को जादूगर की उपाधि दी गई थी, इसका कारण यही था कि जिस प्रकार एक जादूगर अपने भानमती के पिटारे में से नये-नये खेल निकालता चला जाता है उसी प्रकार एडिसन ने अपनी वैज्ञानिक प्रयोगशाला में से नये-नये चमत्कारी वैज्ञानिक आविष्कार निकाल कर संसार को चकित कर दिया। टेलीफोन, ग्रामोफोन, बिजली की रोशनी, सिनेमा, रेडियो इत्यादि आविष्कारों में कोई भी ऐसा नहीं है जिसके मूल या विकास में एडिसन की प्रतिभा का संयोग न हो। एक प्रकार से देखा जाय तो उसने अपनी जादू की लकड़ी से आधुनिक भौतिक सभ्यता का ढंग ही बदल दिया।

जन्म और बाल्यकाल

टॉमस अल्वा एडिसन का जन्म संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के ओहिओ प्रान्त के मिलान नगर में ११ फरवरी १८४७ ई० को हुआ था। बचपन

में यह न्यूटन की ही तरह ठोठ था, अतः जब ७ वर्ष की आयु में इसे पाठशाला में बिठलाया गया तो तीन ही महीने बाद वहां से उठा भी लिया गया। इसके माता-पिता मिलान से अब पोर्ट ह्यूरन आ गये थे और वहीं इसकी माता ने इसे थोड़ी बहुत शिक्षा दी। पर एडिसन की रुचि तो प्रारम्भ ही से वैज्ञानिक प्रयोगों की ओर थी। वह बड़े-बड़े विचित्र प्रयोग किया करता जिससे उसकी मौलिक प्रतिभा का अनुमान होता था। एक बार इसने अपने नौकर को सिडलित्स पाउडर की बहुत-सी पुड़ियां यह देखने के लिए खिला दी कि पेट में गैस भरने से वह गुब्बारे की तरह आकाश में उड़ता है या नहीं (सिडलित्स पाउडर को पानी में डालने से सोडावाटर को तरह गैस निकलने लगती है)।

रेलगाड़ी में अखबार

इस प्रयोग के लिए उसे काफी दंड भुगतना पड़ा। अतः अब उसने एक तहखाने में छोटी-सी प्रयोगशाला बना कर गुपचुप अपना कार्य जारी रक्खा। किन्तु इन प्रयोगों के सामान के लिए खर्च कहां से आता? अतः ऐडिसन ने पोर्ट ह्यूरन और डिट्राइट के बीच दौड़ने वाली रेल पर समाचार पत्र बेचने की अनुमति ले ली। कुछ दिन बाद उसने गाड़ी में ही छोटा-सा छापाखाना लगा लिया और स्वयं अपना अखबार छाप कर बेचने लगा। अब उसने रेलगाड़ी को अपना ही घर बना लिया और अपनी प्रयोगशाला भी पार्सलों की गाड़ी में ही बना डाली।

दुर्घटना

एक दिन गाड़ी के झटके से प्रयोगशाला में रक्खी हुई फास्फोरस की शीशी फूट गई। फास्फोरस पानी में रक्खा रहता है और हवा लगते ही जल उठता है। इसलिए गाड़ी में तुरन्त आग लग गई और कन्डक्टर ने एडिसन को उसकी प्रयोगशाला और छापेखाने समेत उठा कर गाड़ी के बाहर फेंक दिया। कहते हैं कि कन्डक्टर ने एडिसन के कानों पर इतने तमाचे लगाये कि जीवन-भर के लिए उसकी श्रवण-शक्ति कम हो गई।

अद्भुत साहस

परन्तु शीघ्र ही एक ऐसी घटना हुई जिसने एडिसन के जीवन में एक अलभ्य अवसर उपस्थित कर दिया।

जिस स्टेशन दर उसकी दुर्गति हुई थी उसी पर १८६२ ई० का एक दिन। एडिसन प्लेटफार्म पर अखबारों का बंडल लिये खड़ा है। सामने रेल की पटरी पर स्टेशन मास्टर का छोटा बचा खेल रहा है। उधर से एक माल-गाड़ी स्टेशन की तरफ दौड़ी चली आ रही है। एक सेकंड की देर थी कि बचा गाड़ी के नीचे आ जाता। किन्तु एडिसन अखबारों का बंडल फेंक कर बिजली की तरह लपकता है और बच्चे को बाल-बाल बचा लेता है।

बालक के कृतज्ञ पिता स्टेशन मास्टर ने एडिसन को तार का काम सिखाया और वह उसी स्टेशन पर तार-बाबू नियुक्त हो गया।

आविष्कारों का सूत्रपात

जब एडिसन स्ट्रेटफर्ड जंकशन पर तारबाबू था तो रात में हर घण्टे उसे एक सांकेतिक संवाद भेजना पड़ता था। इस झन्नत से बचने के लिए उसने एक यन्त्र बना डाला जो अपने आप निश्चित समय पर तार खटखटा देता था और एडिसन आराम से पड़ा सोता रहता था।

१८६६ ई० में एडिसन की बदली बोस्टन को हो गई। तार-यन्त्र के सुधार के लिए वह प्रारम्भ से ही प्रयोग कर रहा था। इनके फलस्वरूप उसने "फीता-मशीन" का आविष्कार किया जिसके द्वारा तार से भेजा हुआ संवाद दूसरे छोर पर एक फीते पर छपता जाता है। अतः, अब उसने नौकरी छोड़ दी और अपनी आविष्कारक प्रतिभा से लाभ उठाने के लिए न्यूयार्क चला आया।

स्वर्ण-अवसर

जिस समय एडिसन न्यू यार्क पहुंचा उसकी जेब में कौड़ी भी न थी। दो दिन तक वह भूखा-प्यासा गोल्ड इंडिकेटर कंपनी के तारघर में पड़ा रहा।

यह कंपनी दलालों के लिए तार भेजने का काम करती थी। एडिसन के सौभाग्य से तीसरे दिन कंपनी का तार-यंत्र अकस्मात बिगड़ गया जिससे कंपनी को भारी हानि उठाने की संभावना हो गई। परन्तु एडिसन ने तुरंत यन्त्र को ठीक करके उसे चालू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि वह कंपनी के सारे तार-घर का मैनेजर नियुक्त हो गया।

प्रथम पुरस्कार

कुछ वर्ष बाद तार भेजने वाली एक बड़ी कम्पनी ने एडिसन के सामने प्रस्ताव रक्खा कि वह उसके तार-यन्त्र में नये सुधार करके उसे अधिक उपयोगी बना दे। एडिसन ने कुछ दिन के परिश्रम से "एडिसन यूनिवर्सल प्रिंटर" यन्त्र तैयार कर दिया। उसे आशा थी कि इस नये यन्त्र का पुरस्कार उसे पांच हज़ार डालर से अधिक नहीं मिलेगा। अतः जब कंपनी के प्रेसीडेंट ने अपनी ओर से उसे चालीस हज़ार डालर देने को कहा तो एडिसन को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ!

स्वतंत्र व्यवसाय

उपर्युक्त कम्पनी की सांझेदारी छोड़ कर एडिसन ने नेवार्क नगर में अपना एक स्वतन्त्र कारखाना खोला जिसमें "फीता-मशीनें" बनाई जाती थी। साथ-साथ तार-यन्त्रों में सुधार के नये-नये प्रयोग भी यहां किये जाते थे। उनके फलस्वरूप एडिसन ने ऐसा यन्त्र निर्माण किया जिसकी सहायता से बिजली के एक ही तार पर एक साथ दो-दो और चार-चार तार-संवाद भेजा जाना संभव हो गया। इस यंत्र की गणना एडिसन के महत्त्वपूर्ण आविष्कारों में है क्योंकि इससे बिजली के तारों पर खर्च होने वाले करोड़ों रुपये की बचत हो जाती है।

मेनलो-पार्क का जादूगर

१८७६ ई० में एडिसन नेवार्क छोड़कर मेनलो-पार्क चला आया और यहां उसने अपना सुप्रसिद्ध विशाल कारखाना खोला। अब उसने अपना सारा समय नये-नये यंत्रों के आविष्कार में लगा दिया। सबसे पहले तो उसने टेलीफोन यंत्र का परिष्कार किया जिससे उसमें बोलने की

आवाज़ बिल्कुल साफ़ सुनाई देने लगी। इसी आधार पर उसने आगे चल कर लाउड-स्पीकर यंत्र बनाया जिसके बिना आजकल की सभाओं का काम ही नहीं चलता।

साल भर बाद, १८७७ ई० में एडिसन ने फोनोग्राफ का नमूना तैयार किया जिससे सारे वैज्ञानिक जगत् में हलचल मच गई और समाचार-पत्रों ने उसे एक स्वर से "मेनलो-पार्क का जादूगर" घोषित कर दिया।

बिजली की रोशनी

आज हम एक छोटा-सा बटन दबा कर चारों ओर जो बिजली का प्रकाश फैला देते हैं उसका सारा श्रेय एडिसन को ही है। पहले तो उसने बिजली का लट्टू बनाया जिसके भीतर का तार जले नहीं और चमक कर रोशनी देता रहे। इसके बाद उसने बिजली की धारा को वितरण करके उसे एक ही तार के द्वारा अनेक लट्टुओं में पहुंचाने की तरकीब निकाली। बड़े-बड़े नगरों में खर्च होने वाली बिजली उत्पन्न करने के लिए उसने डायनमो बनाये। बिजली को नापने की आवश्यकता पड़ी तो उसने उसके लिए तरह-तरह के मीटर तैयार कर डाले। मतलब यह कि उसने बिजली के उत्पादन से लगाकर उसके वितरण तक का सारा ढांचा बना दिया और उसके लिए जितने साधनों, उपकरणों तथा यंत्रों की आवश्यकता पड़ी उनका आविष्कार किया।

सूत के डोरे को जलाकर और उसे कांच के गोले में बन्द करके बिजली का पहला लट्टू बनाने के कठिन प्रयोग का वर्णन एडिसन ने इस प्रकार किया है—"अब उसे कांच की भट्टी पर ले जाना आवश्यक था। बैचलर ने जले हुए बहुमूल्य डोरे को अत्यन्त सावधानी से उठाया और मैं उसके पीछे-पीछे चला मानो किसी असीम धन-राशि की रक्षा कर रहा हूं। किन्तु जैसे ही हम कांच की भट्टी के पास पहुंचे कम्बख्त डोरा टूट गया और हम बड़ी परेशानी में पड़ गए। हम फिर प्रयोगशाला में आये और नये सिरे से काम आरम्भ किया। तीसरे पहर के बाद कहीं जाकर हम दूसरा जला हुआ डोरा बनाने में सफल हुए, परन्तु

एक पेच-कस के गिरने से यह भी टूट गया। हम फिर वापस लौटे और रात होते-होते हमने डोरे का कोयला बना कर उसे गोले के अन्दर लगा दिया। गोले में से हवा खींच कर निकाल दी गई और उसे बन्द कर दिया गया। फिर बिजली की धारा छोड़ी गई और जिस दृश्य को हम लम्बे अर्से से आशा कर रहे थे वह हमारी आंखों के सामने आ गया"।

सिनेमा

१८८७ ई० में एडिसन मेनलो पार्क से न्यू-यार्क आ गया और बाद के सारे आविष्कार उसने यहीं आकर किये।

चलती-फिरती तसवीरों के प्रयोग कई वर्ष पूर्व से हो रहे थे परन्तु वे केवल खिलौने बनकर रह गए थे। एडिसन ने इस खिलौने को ऐसी अवस्था पर पहुंचा दिया कि आज वह हमारे मनोरंजन और शिक्षा का एक सर्वोत्कृष्ट साधन बन गया है। पहले तो एडिसन ने एक कैमरा बनाया जिसके द्वारा किसी घटना की लगातार तसवीरें उतरती चली जाती हैं। फिर इन तसवीरों को उतारने के लिए उसने सैल्युलाइड के फीते का आविष्कार किया और अन्त में फीते पर उतरी हुई तसवीरों के प्रदर्शन के लिए प्रोजैक्टर निर्माण किया। इस प्रोजैक्टर में फीते पर उतरी हुई लगातार तसवीरें बिजली की तेज़ रोशनी के सामने जल्दी सरकती चली जाती हैं और हमारी आंखों को यह भ्रम हो जाता है कि वे गति कर रही हैं।

अन्य आविष्कार

एडिसन ने कितने आविष्कार किये, उनकी गणना करना कठिन है। लगभग १५०० मुख्य आविष्कारों को तो उसने पेटेन्ट करा लिया तथा दूसरे छोटे-मोटे अनेक आविष्कार और परिष्कार किये वे अलग। रेडियो में लगने वाले वाल्व एडिसन की ही सूझ का परिणाम हैं। एक्सरे यंत्र में जिस चमकदार परदे पर शरीर की हड्डियों की छाया को देखकर उनकी परीक्षा की जाती है वह भी एडिसन का ही आविष्कार है। बिजली

के उपयोग का तो कदाचित ही कोई अंग ऐसा हो जो एडिसन के वैज्ञानिक हाथ से अछूता हो।

१९१४-१८ ई० के महायुद्ध में अमेरिका के संयुक्त-राष्ट्र की सरकार ने उसे नेवल कन्सल्टिंग बोर्ड का अध्यक्ष नियुक्त किया और इसने समुद्री-युद्ध में काम आने वाले चालीस-पचास उपकरणों का आविष्कार किया।

मृत्यु

१८ अक्तूबर १९३१ ई० को ७४ वर्ष की अवस्था में एडिसन का देहान्त हुआ। मृत्यु के पूर्व तक वह अपनी प्रयोगशाला में काम करता था और नित्य नये-नये अनुसंधान तथा आविष्कार किया करता था।

जीवन पर एक दृष्टि

वैज्ञानिक दृष्टि से एडिसन का जीवन चाहे जितना सफल रहा हो परन्तु फिर भी वह था एकांगी ही। उसकी सारी प्रतिभा और शक्ति भौतिक विज्ञान की साधना में ही लगी रही और एक हठ-योगी की भांति वह इससे आगे नहीं बढ़ सका। उसने तो गीता के इस श्लोक को चरितार्थ किया--

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

उसकी साधना में आध्यात्मिकता का अंश नहीं था; क्योंकि उसने ज्ञान को नर-संहारक युद्धोपयोगी शस्त्रास्त्र के आविष्कारों में लगाने से कोई हिचकिचाहट नहीं की। आज विज्ञान के विषय में लोगों की जो गलत धारणा बनती जा रही है, उसका कारण विज्ञान-साधकों का यही एकांगी दृष्टिकोण है।

दाम्पत्य जीवन

एडिसन ने दो विवाह किये और पहली स्त्री से उसके तीन बच्चे भी हुए, किन्तु उसका दाम्पत्य जीवन एक प्रकार से नहीं के बराबर रहा। उसे तो हम जीवन-भर विज्ञान के प्रयोगों में तन्मय और तल्लीन पाते हैं। उसे स्वयं अपने ही तन-बदन की सुध नहीं रहती थी फिर भला स्त्री और

बाल-बच्चों के लिए तो उसके पास अवकाश ही कहां था। उसकी तन्मयता का एक उदाहरण न्यूटन से ही मिलता जुलता है। कहते हैं एक बार वह एक प्रयोग में इतना संलग्न हो गया कि दो-तीन दिन तक लगातार उसकी स्त्री प्रातःकाल चाय बनाकर लाती और थोड़ी देर बाद वैसी की वैसी उठाकर ले जाती। तीसरे दिन जब उससे न रहा गया तो उसने एडिसन का ध्यान आकर्षित किया। एडिसन ने यही कहा कि चाय को आये पन्द्रह मिनट भी नहीं हुए। उसे पता नहीं था कि यह तीसरे सुबह की चाय थी।

अद्वितीय गुण

एडिसन में सबसे बड़ा तथा अनुकरणीय गुण यह था कि जब तक उसे यह विश्वास न हो जाय कि उसकी निर्माण की हुई वस्तु में आगे परिष्कार की गुंजायश नहीं रही तब तक वह उसे अपनी प्रयोगशाला अथवा कारखाने से बाहर नहीं जाने देता था। उसकी कम्पनी के कार्यकर्ता कहा करते थे कि "बुड्ढा तो वस्तुओं को अच्छी बनाने की धुन में रहता था।" भरती की चीजें बनाकर धन कमाने की प्रवृत्ति एडिसन में नहीं थी।

एडिसन इस युग का सबसे बड़ा व्यावहारिक वैज्ञानिक माना जाता है। उसके विषय में अमेरिका के प्रसिद्ध मोटर व्यवसायी हेनरी फोर्ड ने कहा था—"उसका ज्ञान इतना सर्व-व्यापक है कि उसे केवल विद्युत्-विशेषज्ञ अथवा रसायनज्ञ की श्रेणी में नहीं रक्खा जासकता—वास्तव में उसे किसी श्रेणी में रक्खा ही नहीं जा सकता। जितना ही अधिक मैं उसके सम्पर्क में आया हूं उतना ही अधिक वह मुझे महान प्रतीत हुआ है।"

: १५ :

कुरी दम्पती

रेडियम का नाम बहुधा सुनने में आता है। पर न तो घड़ियों के चमकदार "रेडियम-डायल" से इसका कुछ सम्बन्ध है और न मिलते-जुलते नाम वाले रेडियो से। हां, ये दोनों वस्तुएं रेडियम के गुणों की ओर संकेत अवश्य करती हैं।

विज्ञान के आधुनिक अनुसंधानों में रेडियम का कितना महत्त्व है इससे बहुत कम लोग परिचित हैं। जिन्होंने रेडियम देखा है उनकी संख्या कदाचित् इनसे भी कम हो और रेडियम के प्रकाश को प्रकाश में लाने वाले कुरी दम्पती—मैदम मेरी कुरी और उनके पति प्रोफेसर पीयरी कुरी के नाम तो विज्ञान के विद्यार्थियों के सिवा बहुत ही कम लोगों ने सुने होंगे। यद्यपि रेडियम के आविष्कार का श्रेय मैदम कुरी को है, परन्तु इसके अनुसंधान में पति-पत्नी दोनों का ही हाथ है। विवाह के बाद दोनों के जीवन ने एक ही धारा में बहकर संसार को जो वस्तु दी है, उससे कुरी-दम्पती का नाम विज्ञान के इतिहास में रेडियम के ही अक्षरों में लिखा रहेगा।

मैदम कुरी

भारत-कोकिला सरोजिनी नायडू का नाम सारे सभ्य-जगत् में विख्यात है, परन्तु उनके पति डा० नायडू को अपने देश में भी बहुत कम लोग जानते हैं। हरीन्द्रनाथ चटोपाध्याय स्वयं एक प्रसिद्ध कलाकार हैं, और कमलादेवी का नाम तो समाचार-पत्रों में आये दिन पढ़ने में आता है। परन्तु कुछ वर्ष पहले ये दोनों पति-पत्नी थे, इसका सर्वसाधारण को पता नहीं है। कुरी-दम्पती का उदाहरण इन दोनों से भिन्न है; परन्तु फिर भी

दोनों के सम्मिलित जीवन की प्रधान पात्र मैंदम कुरी ही मानी जाती है। इसका एक कारण यह भी है कि प्रोफ़ेसर कुरी की मृत्यु पहले हुई।

जन्म और शिक्षा

प्रोफ़ेसर कुरी से विवाह के पूर्व मैंदम कुरी का नाम मेरिया स्क्लोदोवस्का था। इसका पिता प्रोफ़ेसर स्क्लोदोवस्का पोलैंड का निवासी था और वहीं के प्रसिद्ध वारसा नगर में विज्ञान का आचार्य था। मेरिया का जन्म ७ नवंबर १८६७ ई० को वारसा में ही हुआ और वहीं इसने शिक्षा पाई। अतः यह स्वाभाविक ही था कि प्रारम्भ से ही इसकी रुचि विज्ञान के अध्ययन की ओर रही।

क्रान्तिकारी दल

उस समम पोलैंड रूस के ज़ार के अत्याचारों से पीड़ित था। देश में चारों ओर दमन और आतंक का साम्राज्य था। सारी राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को निर्दयतापूर्वक कुचला जाता था। यहांतक कि स्कूलों में पोलिश भाषा के बजाय रूसी भाषा ही पढ़ाई जाती थी। परन्तु ये सारे दमन और अत्याचार पोल लोगों की राष्ट्रीय भावनाओं को न दबा सके। परिणाम यह हुआ कि विद्रोह की अग्नि भीतर-ही-भीतर सुलगने लगी और क्रान्तिकारियों के गुप्त दल संगठित होने लगे। विद्यार्थिनी मेरिया पर भी देश-भक्ति की इस लहर का प्रभाव पड़े बिना न रहा और वह एक क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो गई। परन्तु अब वारसा में उसकी शिक्षा समाप्त हो चुकी थी, अतः आगे शिक्षा प्राप्त करने के लिए उसे पोलैंड से बाहर जाने को बाध्य होना पड़ा। मेरिया को तो मैंदम कुरी बनकर संसार में ख्याति प्राप्त करनी थी, फिर भला दैव उसे पोलैंड में ही कैसे रहने देता। इस सम्बन्ध में मेरिया के बचपन की एक घटना बड़ी मनोरंजक है।

भविष्य-वाणी

एक दिन ६–७ वर्ष की एक सुन्दर और सुकुमार बालिका वारसा की गली में बच्चों के साथ खेल रही थी। अकस्मात

एक जिप्सी[1] बुढ़िया ने उसे रास्ते में रोककर उसका हाथ देखना चाहा। बालिका ने तुरन्त अपना हाथ बढ़ा दिया। बुढ़िया ने हाथ की रेखाओं को ध्यान से देखकर अस्फुट शब्दों में कहा, "तुम ख्याति प्राप्त करोगी।" इतना कहकर बुढ़िया तुरन्त आगे चल दी। दूसरे बालक शोर मचाते और प्रश्न करते ही रह गए। यह बालिका मेरिया थी।

पैरिस में आगमन

मार्या का विचार क्रैंको के विश्वविद्यालय में अध्ययन करने का हुआ, परन्तु वहां उसे स्त्री होने के कारण प्रविष्ट नहीं किया गया। अन्त में वह पैरिस आई क्योंकि यहां के एक विश्वविद्यालय में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध नहीं था।

पैरिस में मेरिया को स्वतन्त्र रूप से अपना जीवन-निर्वाह और अध्ययन दोनों काम करने पड़े। वह अपने घर का सब काम करती थी, विश्वविद्यालय में पढ़ाती थी और वहीं स्वयं भी पढ़ती थी।

विवाह

अब मेरिया एक सुन्दर युवती थी। उधर पैरिस के उसी विश्वविद्यालय में पीयरी कुरी एक प्रसिद्ध प्रोफेसर था और रूपवान भी। दोनों एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए। जीवन का लक्ष्य भी दोनों का एक ही था। मानो विधाता ने यह जोड़ी किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाई हो। १८९५ ई० में दोनों का विवाह हो गया और मेरिया स्क्लोदोवस्का मैदम मेरी कुरी बन गई।

प्रोफेसर कुरी

पीयरी कुरी का जन्म पैरिस में १८५९ ई० में हुआ था। यह बालकपन से ही अत्यन्त प्रतिभाशाली था। इसने पैरिस के विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई और सर्वोच्च प्रमाण-पत्र प्राप्त करके वहीं प्रोफेसरी कर ली।

१ जिप्सी लोग यूरोप की एक घुमक्कड़ जाति है। ये लोग जड़ी-बूटियां बेचते हैं, जादू-टोना करते हैं और सामुद्रिक इत्यादि के द्वारा लोगों के भाग्यफल बतलाते हैं। कहते हैं इनका मूल निवासस्थान भारत है।

इसका विद्यार्थी-जीवन परिश्रम, अध्यवसाय और असाधारण सफलता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

कुरी फ्रांसीसी था और मेरिया पोल थी। विवाह दोनों का अन्तर्राष्ट्रीय हुआ, परन्तु सामाजिक परम्परा ने पोल युवती को फ्रांसीसी महिला बना दिया।

रेडियम का आविष्कार

विवाह ने दोनों के वैज्ञानिक अन्वेषणों को चार चाँद लगा दिये अब तक जो दो धाराएं एक ही दिशा में अलग-अलग बह रही थीं, मिलकर एक हो गईं।

जिस वर्ष दोनों का विवाह हुआ उसी वर्ष फ्रांस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैनरी बैकरेल ने पता लगाया कि कुछ रासायनिक पदार्थों में यह गुण होता है कि यदि उन्हें कागज़ में लपेट कर फ़ोटो की प्लेट पर रख दिया जाय तो प्लेट पर प्रकाश-किरणों का चित्र उतर आता है। इससे बैकरेल ने अनुमान लगाया कि इन पदार्थों में से अदृश्य किरणें निकलती हैं। पदार्थों के इस गुण को "रेडियो-एक्टिवटी" अर्थात् रश्मि-विकीर्णन नाम दिया गया और रश्मियों का नाम बैकरेल-रश्मियां रखा गया।

बैकरेल की खोज ने कुरी-दम्पती को इस विचार की ओर प्रेरित किया कि रश्मि-विकीर्णक पदार्थों में अवश्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ है जिसमें से रश्मियां प्रस्फुटित होती हैं। अतः दोनों इसे पृथक करने में जुट पड़े और तीन वर्ष के अथक परिश्रम के पश्चात् मैदम कुरी ने दो तत्त्व ढूंढ़ निकाले। एक का नाम तो उसने अपनी जन्मभूमि की स्मृति में पोलोनियम रक्खा और दूसरी का रेडियम। इस अनुसंधान के फलस्वरूप कुरी-दम्पती और बैकरेल को १९०४ ई० में नोबल पुरस्कार प्रदान करके सम्मानित किया गया।

प्रारम्भिक कठिनाइयां

रेडियम धातु पिच ब्लेंडी नामक खनिज पदार्थ में मिली हुई पाई जाती है। परन्तु इसे पृथक् करना आसान काम नहीं है। पिच ब्लेंडी

स्वयं एक मूल्यवान वस्तु है, अतः यदि आस्ट्रिया के सम्राट ने कुरी दम्पती को एक टन पिच ब्लेंडी की उदारता पूर्वक भेंट न की होती तो इन्हें बहुत कठिनाई होती। दूसरे जिस क्रिया से रेडियम को अलगाया जाता है वह बहुत ही जटिल है। साथ ही उसमें धन और समय का भी पूरा व्यय होता है। इन सब बातों का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि एक टन पिच ब्लेंडी से अलगाते-अलगाते कहीं जाकर एक रत्ती से भी कम रेडियम प्राप्त होता है। इस क्रिया में ५-६ टन तो अन्य मूल्यवान रासायनिक पदार्थ खर्च हो जाते हैं; असाधारण सावधानी और धैर्य की आवश्यकता होती है सो अलग। तीसरे रेडियम से खेलना निरापद भी नहीं है। इंग्लैंड में रेडियम का प्रयोग सिखलाते समय प्रोफ़ेसर कुरी का हाथ इतना जल गया कि उनकी उंगलियां जीवन भर के लिए बेकार हो गईं। रेडियम की खोज में तीन साल अनवरत प्रयोग करते-करते मैदम कुरी का स्वास्थ्य भी बहुत गिर गया था।

रेडियम

रेडियम से अधिक प्रकाशमान और शक्तिशाली तत्व अभीतक कोई दूसरा नहीं मिला है। इसमें से निकलने वाली रश्मियों अर्थात् सूक्ष्म किरणों में इतनी भेदन शक्ति होती है कि वे धातु की मोटी-मोटी चादरों को भी पार करके निकल जाती हैं। रेडियम की इन रश्मियों का उपयोग कैन्सर इत्यादि भीतरी फोड़ों के उपचार में किया जाता है। परंतु इसके वैज्ञानिक महत्त्व का अंदाज लगाना कठिन है। इसने यह सिद्ध कर दिया कि संसार के सारे पदार्थ केवल शक्ति का ही एक भौतिक रूप है और एक तत्व के परमाणुओं की रचना को बदल कर दूसरा तत्व बनाया जा सकता है। लौकिक भाषा में यों कह सकते हैं कि किसी भी धातु को सोने में परिवर्तन किया जा सकता है। प्राचीन भारत के रसायनज्ञों की तांबे से सोना बनाने की क्षमता को अब निरी कपोल-कल्पना नहीं कहा जा सकता।

रेडियम इतनी दुष्प्राप्य धातु है कि अभी तक इसकी केवल २-३

छटांक मात्रा ही प्राप्त की जा सकी है। इस मात्रा का कुछ भाग तो संसार के प्रसिद्ध अस्पतालों में है और कुछ वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में है। एक तोला रेडियम निकालने में डेढ़-दो करोड़ रुपये के लगभग लागत पड़ती है।

सम्मान

रेडियम के चमत्कारी आविष्कार ने विज्ञान-जगत में हलचल मचा दी और सब ओर से कुरी दम्पती पर सम्मानों की वर्षा होने लगी। पैरिस के विश्वविद्यालय ने रेडियम पर अनुसंधान करने के लिए एक नया विभाग खोल कर प्रोफेसर कुरी को उसका अध्यक्ष नियुक्त किया। मैदम कुरी उनकी सहायक नियुक्त हुई।

वज्रपात

कुरी दम्पती के गार्हस्थ जीवन को धन, कीर्त्ति और संतान; तीनों मिलकर सुखमय बना रहे थे। परंतु यह सुख संसार की अन्य सारी वस्तुओं की भांति अस्थायी प्रमाणित हुआ। १९०७ ई० के रेडियम के आविष्कार से तीन ही वर्ष बाद प्रोफेसर कुरी की पैरिस की सड़क पर एक गाड़ी से टक्कर लग कर मृत्यु हो गई। मैदम कुरी के हृदय पर भयंकर वज्रपात हुआ और उसने इस शोक को भुलाने का एक ही मार्ग देखा। वह और भी अधिक लगन के साथ अपने वैज्ञानिक कार्य में दत्तचित्त होगई।

फिर नोबल पुरस्कार

पैरिस विश्वविद्यालय में मैदम कुरी ने अपने पति का स्थान ग्रहण कर लिया और अथक परिश्रम के फलस्वरूप १९११ ई० में रसायन विज्ञान सम्बंधी खोजों के लिए नोबल पुरस्कार प्राप्त किया। उसके प्रयत्न से पैरिस और उसके जन्मस्थान वारसा में रेडियम इंस्टीट्यूटों की स्थापना हुई जिनमें रेडियम के गुणों पर खोज की जाने लगी और इसका चिकित्सा में भी उपयोग किया जाने लगा।

सेवाकार्य

१९१४-१८ ई० के महायुद्ध में मैदम कुरी ने रेडियम द्वारा युद्ध के

घायल सैनिकों की चिकित्सा में सहयोग दिया। युद्ध का अंत होने पर अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र ने मैदम कुरी की सेवाओं के उपलक्ष में उसे १ ग्राम (लगभग १ माशा) रेडियम प्रदान किया। १६२६ ई० में फ्रांस की सरकार ने १५ लाख फ्रैंक लगाकर एक रेडियम फैक्टरी तथा प्रयोगशाला खोली और मैदम कुरी को उसकी अध्यक्षा नियुक्त किया।

सुयोग्य पुत्री

मैदम ने दो पुत्रियों को जन्म दिया। इनमें से एक पुत्री ने अपनी माता के नाम को और भी चमका दिया। इसने अपने पति प्रोफेसर जोलियो के साथ रेडियो-एक्टिविटी पर बड़े मार्के के अनुसंधान किये जिसके फलस्वरूप १६३५ में दोनों को रसायन विज्ञान का नोबल पुरस्कार दिया गया।

मृत्यु

निरन्तर वैज्ञानिक प्रयोगों में लगे रहने के कारण मैदम कुरी का स्वास्थ्य गिरता ही चला गया और अन्त में उसे चिकित्सा के लिए एक सैनेटोरियम में रहना पड़ा। यहां ४ जुलाई, १६३४ को ६७ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई।

जीवन का तत्व

यद्यपि कुरी दम्पती के जीवन का मुख्य तत्व विज्ञान की साधना रहा, परन्तु बारीकी से देखने पर पता लगता है कि उनका जीवन एकांगी नहीं था। जहां एक ओर उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में अपनी सर्वोत्कृष्ट प्रवृत्तियों को लगा दिया वहां दूसरी ओर अपने दाम्पत्य और गार्हस्थ उत्तरदायित्व को पूरी तरह निभाया। वह एक आदर्श दम्पती थे और पारिवारिक समस्याओं में उतनी ही दिलचस्पी लेते थे जितनी अपने वैज्ञानिक प्रयोगों में। अपने विवाह के फल उन्हें उतने ही प्रिय थे जितने अपने वैज्ञानिक प्रयोगों के फल। विवाह के बाद दोनों मिलकर अपनी छोटी-सी घर-गिरस्ती चलाते थे। मैदम भोजन बनाती थी तो प्रोफेसर दोनों बच्चियों को खिलाते थे और ऊपर का काम-धन्धा करते थे।

उनकी पहली पुत्री का जन्म मैदम कुरी के उन सबसे महत्त्वपूर्ण तीन वर्षों में हुआ जब वह रेडियम की खोज में तत्पर थी। एक ओर गृहस्थी का संचालन, दूसरी ओर गर्भधारण, बालिका का जन्म और लालन-पालन तथा तीसरी ओर वैज्ञानिक अन्वेषण। मैदम कुरी ने अपनी विज्ञान-साधना में पत्नीत्व और मातृत्व को लोप नहीं होने दिया।

विनम्र स्वभाव

दोनों प्राणी अत्यन्त सौम्य प्रकृति और विनम्र स्वभाव वाले थे। अहंकार और लोकैषणा तो उनके रंचमात्र भी न थी। इसी कारण विज्ञापनबाजी से वे बहुत घबराते थे। संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार 'नोबल पुरस्कार' दो-दो बार प्राप्त करना किसी के भी दिमाग को आसमान पर चढ़ाने के लिए काफी है। परन्तु मैदम कुरी को इसका गुमान भी न था। उसके लिए तो उसका काम ही सब कुछ था। उसकी सफलता ही उसका वास्तविक पुरस्कार था।

मैदम कुरी का देश-प्रेम

विवाह के फलस्वरूप पोलैंड की कन्या मेरिया क्लोदोवस्का के नाम का फ्रांसीसी रमणी मैदम कुरी के नाम में लोप होगया। परन्तु नाम परिवर्तन से हृदय की कोमल भावनाओं का तो परिवर्तन नहीं होता। मैदम कुरी अन्त समय तक हृदय से पोल ही रही और जन्मभूमि पोलैंड का चित्र सदा उसके अन्तस्तल में विराजमान रहा। उसने अपनी आविष्कृत प्रथम धातु का नाम इसी कारण पोलोनियम रक्खा। अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र की कुछ महिलाओं ने उसे जो वार्षिक वृत्ति दी उसे उसने वारसा के रेडियम अस्पताल को दान कर दिया।

कार्यक्षेत्र में विज्ञान की साधना, व्यक्तिगत क्षेत्र में आदर्श दाम्पत्य व्यवहार और सार्वजनिक क्षेत्र में जननी जन्मभूमि के प्रति कर्त्तव्यपालन और प्रेम, तीनों के समन्वय की सर्वांगीण सफलता का इतना उत्कृष्ट और स्फूर्त्तिदायक उदाहरण दुर्लभ है।

मैदम कुरी के जीवन का चित्रण करने वाली एक रोचक फिल्म भी बन गई है।

: १६ :

जगदीशचन्द्र वसु

"पूर्वी जादूगर"

जिस प्रकार एडिसन को "मेनलो पार्क का जादूगर" की उपाधि दी गई, उसी प्रकार भारत के जगत-विख्यात वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र वसु को "पूर्वी जादूगर" की उपाधि से विभूषित किया गया। परन्तु दोनों की "जादूगरी" में उतना ही अंतर है जितना पश्चिम और पूर्व में—जितना पश्चिम और पूर्व की विचार-धाराओं और आदर्शों में। एडिसन पश्चिम के भौतिकवाद का प्रतीक है तो वसु पूर्व की दार्शनिकता के। एडिसन ने प्रकृति की शक्तियों को वश में करके चमत्कारपूर्ण आविष्कार किये, परन्तु वसु ने अपने जादू से प्रकृति के एक महान रहस्य को खोल कर रख दिया। उन्होंने वेदांत दर्शन के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का वैज्ञानिक प्रमाण दे दिया कि संसार के सारे जड़ और चेतन पदार्थों में एक ही चैतन्यशक्ति अभिव्याप्त है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन'। जिन्हें हम जड़ पदार्थ मानते हैं उन धातुओं पर भी भौतिक परिवर्तनों का वैसा ही प्रभाव होता है जैसा चेतन कहे जाने वाले प्राणि-वर्ग पर। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि वनस्पति-वर्ग जड़ और चेतन पदार्थों की शृङ्खला के बीच की एक कड़ी है। पश्चिमी भौतिक विज्ञान की दृष्टि में इस खोज का महत्त्व भले ही उतना न हो जितना एडिसन इत्यादि वैज्ञानिकों के आविष्कारों का, किंतु भारत को इसका गर्व है कि उसने जगदीशचंद्र वसु जैसे तत्वदर्शी वैज्ञानिक को जन्म दिया।

बाल्यकाल और शिक्षा

जगदीशचंद्र वसु का जन्म बंगाल के ढाका जिले के राढ़ीखाल नामक ग्राम में ३० नवम्बर १८५८ ई० को हुआ। उनके पिता भगवानचंद्र वसु

उस समय फरीदपुर में डिप्टी-कलक्टर थे, अतः उनके बाल्यकाल का प्रारम्भिक समय यहीं बीता। भगवानचन्द्र बसु बड़े ही उदार-हृदय व्यक्ति थे। उद्योग धन्धों से उन्हें विशेष प्रेम था और देशी उद्योग स्थापित करने के प्रयत्नों में उन्होंने अपना सारा धन गंवा दिया। परन्तु बालक जगदीशचन्द्र को अपने पिता की इन प्रवृत्तियों से बहुत स्फूर्त्ति और प्रेरणा मिली।

जगदीशचन्द्र को सब से पहले फरीदपुर की एक देहाती पाठशाला में पढ़ने को भेजा गया। इस सम्बंध में वह स्वयं लिखते हैं — "मुझे देहाती पाठशाला में इसलिए भेजा गया कि मैं अपनी मातृ-भाषा सीखूं, देश के विचारों का अध्ययन करूं और अपने देश के साहित्य द्वारा राष्ट्रीय सभ्यता और आदर्शों का पाठ पढ़ूं।······ ग्रामीण बच्चों के साथ रहकर मैंने सच्ची मनुष्यता का पाठ सीखा और यहीं मुझे प्रकृति के प्रति प्रेम भी प्राप्त हुआ।"

प्राथमिक शिक्षा की समाप्ति पर उन्होंने कलकत्ते के सेंट ज़ेवियर स्कूल से एन्ट्रेंस परीक्षा पास की और फिर उसी कालिज से बी॰ ए॰ की डिग्री प्राप्त की। कालेज में उन पर विज्ञान के आचार्य पादरी लाफों का प्रभाव पड़ा जिससे विज्ञान के प्रयोगों में उनकी रुचि बहुत बढ़ गई।

इंग्लैंड की यात्रा

बी॰ ए॰ पास करने के बाद इन्होंने इंग्लैंड जाकर सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठने की उत्सुकता प्रकट की। बहुत हठ करने पर इन्हें विलायत तो भेज दिया गया परंतु दूरदर्शी पिता ने इन्हें सिविल सर्विस की अनुमति न देकर डाक्टरी पढ़ने का आदेश दिया। इंग्लैंड जाने के व्यय का प्रबंध करने के लिए इनकी सहृदया माता ने अपने सारे आभूषण बेच दिये।

इंग्लैंड पहुंच कर जगदीशचन्द्र बसु लंदन के मेडिकल कालेज में भर्ती हो गए। परन्तु नियति को कुछ और ही करना था। भारत छोड़ने के पूर्व से ही मलेरिया ने इन्हें इतना आक्रांत किया कि यह डाक्टरी की पढ़ाई

में बहुत पिछड़ गये और इन्हें विवश होकर भौतिक विज्ञान का अध्ययन करने के लिए कैम्ब्रिज के विश्व विद्यालय की शरण लेनी पड़ी। १८८४ ई० में कैम्ब्रिज की परीक्षा पास करने के बाद इन्होंने लंदन विश्व विद्यालय से बी० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की। इस विद्यार्थी जीवन में बसु महोदय इंग्लैंड के प्रमुख विज्ञानाचार्यों के सम्पर्क में आये और उनसे उन्होंने बहुत-सी बातें सीखीं।

भारत लौटना

१८८५ ई० में भारत लौटने पर लार्ड रिपन की सिफारिश से जगदीशचंद्र बसु को कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कालेज में भौतिक विज्ञान का प्रोफेसर नियुक्त कर दिया गया। उस समय शिक्षा-विभाग का यह नियम था कि हिन्दुस्तानी प्रोफेसरों को अंग्रेज प्रोफेसरों के वेतन का केवल दो तिहाई वेतन दिया जाता था। चूंकि बसु की नियुक्ति स्थानापन्न थी, अतः इन्हें इस दो-तिहाई का भी आधा वेतन देने का निश्चय किया गया। परंतु बसु के आत्माभिमान को यह भेदनीति सह्य न हुई और इसके विरोध में वह तीन वर्ष तक अपने वेतन के चैक लगातार लौटाते रहे। अंत में शिक्षा-विभाग ने इनकी स्थायी नियुक्ति कर दी और पिछला पूरा वेतन भी दिया।

विवाह और आर्थिक कठिनाई

प्रेसिडेन्सी कालेज में नियुक्ति के लगभग साल भर बाद ही जगदीश चन्द्र बसु का विवाह होगया। वेतन तो ये लौटा ही देते थे, अतः नव-दम्पती को प्रारम्भ से ही आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। कलकत्ते में सस्ता मकान न मिल सकने के कारण इन्होंने नदी के पार चन्द्रनगर में मकान लिया। वहां से ये प्रतिदिन अपने आप नाव खेकर कलकत्ता आते थे और इनकी पत्नी अबला बसु उसे वापस खेकर लेजाती थी। तीन वर्ष के बाद वे कलकत्ता आगये और अपने बहनोई के साथ मछुआ बाज़ार में एक मकान लेकर रहने लगे।

वैज्ञानिक अनुसंधानों का प्रारम्भ

आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी बसु ने अपनी वैज्ञानिक अन्वेषण सम्बन्धी प्रवृत्तियों को कुण्ठित नहीं होने दिया और अपने घर में ही एक छोटी सी प्रयोगशाला बना डाली। अन्य बातों के अतिरिक्त फोटोग्राफी और संगीत इत्यादि के रिकार्ड तैयार करने में इन्हें विशेष रुचि थी। साथ ही जर्मन वैज्ञानिक हर्ट्ज़ के विद्युत्-चुम्बकीय प्रयोगों पर भी इनका ध्यान था। अपने ३५ वें जन्म-दिवस पर बसु ने विद्युत-चुम्बकीय तरंगों पर गम्भीरतापूर्वक अनुसंधान प्रारम्भ कर दिया। इन अनुसंधानों के फलस्वरूप उन्होंने कई नई बातें मालूम कीं और बेतार के सम्वाद भेजने का यंत्र भी बनाया। यदि ये इसी दिशा में प्रयत्न करते रहते तो कदाचित रेडियो के आविष्कारकों में मार्कोनी के बजाय जगदीशचन्द्र बसु का ही नाम लिया जाता। जब १८९५ ई० में इंग्लेण्ड जाकर उन्होंने अपने बनाये हुए सूक्ष्म यंत्रों का प्रदर्शन किया तो वहां के लब्ध-प्रतिष्ठ वैज्ञानिक भी प्रभावित और आश्चर्य चकित हुए बिना न रहे। किंतु इन प्रयोगों के दौरान में उन्हें जो नवीन अनुभव हुआ उसके अन्वेषण में वह अपने विद्युत् चुम्बकीय तरंगों सम्बंधी सारे सफल प्रयोगों को छोड़ बैठे।

जड़ में चेतनता

जिस समय बसु बेतार की तरंगों को ग्रहण करने वाला अच्छा "कोहरर" बनाने के प्रयोग कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि कुछ धातुओं में बार-बार विद्युत्-तरंगों के प्रभाव से थकावट-सी उत्पन्न होजाती है, किंतु कुछ देर आराम देने से वे फिर अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त कर लेती हैं। इस दिशा में अनेक प्रयोगों के फलस्वरूप उन्होंने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि भौतिक कारणों की जैसी प्रतिक्रिया जीवों में होती है उससे मिलती-जुलती प्रतिक्रिया धातु इत्यादि जड़ वस्तुओं में भी होती है।

बसु की इस घोषणा ने विज्ञान जगत में धूम मचा दी और १९००ई०

में उन्हें पेरिस की अन्तर्राष्ट्रीय भौतिक-विज्ञान कांग्रेस में इस विषय पर भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया गया।

वनस्पतिवर्ग में प्रतिक्रिया

धातुओं में होने वाली प्रतिक्रिया को देखकर बसु को वनस्पतिवर्ग में भी इसी प्रकार के परीक्षण करने की प्रेरणा हुई और यहां उन्हें और भी चमत्कारी अनुभव हुए। पेड़-पौधों की प्रतिक्रिया को जांचने के लिए उन्होंने कई सूक्ष्म यंत्र बनाये जिनमें रेजोनेन्ट रिकार्डर, ऑसिलेटिंग रिकार्डर, मैग्नेटिक क्रैस्कोग्राफ, फोटो-सिन्थेटिक रिकार्डर इत्यादि मुख्य हैं। इन यंत्रों की सहायता से बसु ने विज्ञान जगत् को यह सिद्ध करके दिखला दिया कि वनस्पतिवर्ग में भी उसी प्रकार की जीवनधारा प्रवाहित होरही है जैसी प्राणि-वर्ग में। वनस्पतिवर्ग में भी उसी प्रकार का स्पन्दन होता है जैसा जीवों की नाड़ियों में। आकस्मिक घटनाओं, चोटों, गर्मी, सर्दी, विष, मादक द्रव्यों इत्यादि का उन पर भी प्रभाव पड़ता है। वे भी हर्ष, विषाद, क्लान्तता, भूख, प्यास, इत्यादि का अनुभव करते हैं। संक्षेप में वनस्पतिवर्ग में जीवजन्तुओं की ही भांति संवेदना होती है।

इन सब खोजों का वर्णन बसु ने अपनी 'रिस्पान्स इन दि लिविंग एंड नॉन-लिविंग' (जीवों और अजीवों में प्रतिक्रिया) नामक पुस्तक में किया है।

वैज्ञानिकों का विरोध

१६०१ ई० में बसु ने इंग्लेण्ड जाकर वहां की प्रमुख वैज्ञानिक संस्था रायल सोसाइटी के सामने अपनी खोजों के परिणामों को रक्खा और प्रयोग करके दिखलाये। एक भारतीय वैज्ञानिक की इस क्रांतिकारी खोज ने इंग्लेण्ड के कुछ प्रमुख प्राणि-शास्त्रियों के आत्म सन्मान को शायद कुछ ठेस पहुंचाई क्योंकि वे वर्षों के परिश्रम से भी इन तथ्यों तक नहीं पहुंच पाये थे। अतः उन्होंने बसु के परिणामों का विरोध किया और उनके प्रयोगों की खिल्ली उड़ानी शुरू की। उन्होंने यहां तक कह डाला कि बसु महोदय इस अनाधिकार चेष्टा को छोड़कर विद्युत्-चुम्बकीय

तरंगों के अनुसन्धान में ही अपनी प्रतिभा का उपयोग करें। प्रसिद्ध प्राणि-शास्त्री सर जॉन सैन्डरसन इस विरोधी आंदोलन के मुखिया थे। फल यह हुआ कि रॉयल सोसाइटी ने बसु की खोजों को अपने मुख-पत्र में प्रकाशित करने से इन्कार कर दिया।

छल

एक अंग्रेज वैज्ञानिक ने, जिसने रायल सोसाइटी में बसु के प्रयोग देखे थे, उनके भाषण को एक दूसरी वैज्ञानिक संस्था के पत्र में अपने ही नाम से छपवा दिया। बसु को इस बात का पता तब लगा जब लीनियन सोसाइटी ने उनके अन्वेषणों की मौलिकता से प्रभावित होकर उन्हें आग्रह पूर्वक अपनी ओर से प्रकाशित किया। अंग्रेज़ वैज्ञानिक के इस छलपूर्ण व्यवहार से बसु को अत्यन्त क्षोभ हुआ और उन्होंने लीनियन सोसाइटी से इस मामले में जांच करने का अनुरोध किया। फलस्वरूप जांच कमेटी नियुक्त की गई, जिसने बसु की मौलिकता को स्वीकार किया और अंग्रेज वैज्ञानिक के छल की भर्त्सना की।

विदेश यात्राएं और सम्मान

अपनी नवीन खोजों के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के सन्देह को मिटाने तथा अपने प्रतिपादित सिद्धांतों का अकाट्य प्रायोगिक प्रमाण देने के लिए बसु ने निरंतर प्रयत्न जारी रक्खे। उन्होंने अपने पुराने यंत्रों में अनेक सुधार किये और कई नये सूक्ष्म यंत्र बनाये जिनका उल्लेख किया जा चुका है। अन्त में वैज्ञानिकों को इनका लोहा मानना पड़ा और जिस रॉयल सोसाइटी ने दो बार इनके अन्वेषणों का विवरण अपने मुख-पत्र में प्रकाशित करने से इन्कार किया था, उसीने बाद में इन्हें अपना फैलो नियुक्त किया।

१९०३ ई० में बसु ने इंग्लैण्ड और यूरोप की यात्रा की और १९१५ ई० में आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों ने इन्हें अपने यहां भाषण देने के लिए निमन्त्रित किया। इंग्लैण्ड में अपना कार्य समाप्त करके ये यूरोप और अमेरिका गये जहां की प्रमुख वैज्ञानिक संस्थाओं ने इनके प्रति

अत्यंत सम्मान प्रकट किया। इस यात्रा से बसु ने सारे वैज्ञानिक संसार में ख्याति प्राप्त की और राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) ने इन्हें अपनी एक उप-समिति का स्थायी सदस्य निर्वाचित किया। इस समिति की बैठकों में भाग लेने के लिए इन्हें प्रतिवर्ष यूरोप जाना होता था। फ्रांस की भौतिक विज्ञान सोसाइटी ने भी बसुको अपनी कौंसिल का सदस्य निर्वाचित किया।

उपाधियां

यद्यपि जगदीशचन्द्र बसु की प्रतिभा और योग्यता किसी डिग्री या सरकारी उपाधि की मोहताज नहीं थी, परंतु इनके प्रति आदर और सम्मान प्रदर्शित करने के लिए देश और विदेश के कई विश्वविद्यालयों ने इन्हें डाक्टर की डिग्रियां प्रदान कीं और भारत सरकार ने इन्हें क्रमशः सी० आई० ई०, सी० एस० आई और 'सर' की उपाधियों से विभूषित किया।

अवकाश ग्रहण

१६१५ ई० में ५७ वर्ष की आयु में बसु ने प्रेसिडेंसी कालेज से अवकाश ग्रहण किया, परंतु सरकार ने इन्हें आनरेरी प्रोफेसर का पद देकर जीवन पर्यन्त पेंशन के बजाय पूरा वेतन दिया। अवकाश प्राप्ति के पूर्व सरकार को यह भी पता लगा कि बसु महोदय शिक्षा-विभाग में सबसे ऊंचा वेतन पाने के अधिकारी होगये थे, परंतु किसी भूल के कारण वह इससे वंचित रहे। अतः यह भूल सुधार दी गई जिसके फलस्वरूप बसु को पिछले वर्षों की घटी की एक अच्छी रकम प्राप्त हो गई।

अन्वेषण भवन की स्थापना

यद्यपि बसु ने अपने घर में ही एक छोटी-सी काम चलाऊ प्रयोगशाला बना रक्खी थी, परंतु एक अच्छी प्रयोगशाला का अभाव उन्हें प्रारम्भ से ही खटक रहा था। अवकाश प्राप्त करने के बाद उन्होंने एक अन्वेषण भवन स्थापित करने का पूरा निश्चय कर लिया। वेतन की घटी का जो रुपया मिला था वह उन्होंने पहले ही इस मद में जमा करा दिया था। अब एक मित्र ने भी इस कार्य के लिए धन दिया। कुछ चंदा एकत्र

किया गया और सरकार ने वार्षिक सहायता देने का वचन दिया। अतः बसु ने अपने मकान के पास एक जमीन मोल लेकर कार्य आरम्भ कर दिया। इस प्रकार ३० नवम्बर १९१७ ई० को, बसु की ५९ वीं वर्ष गांठ के अवसर पर, "बसु रिसर्च इन्स्टीट्यूट" का उद्घाटन होगया।

इस अन्वेषण-भवन में अनेक वैज्ञानिक बसु की खोजों को आगे बढ़ाने में लगे हुए हैं। बसु के जीवनकाल में ही वीयना के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर मालिश ने इस इन्स्टीस्यूट में रहकर छह महीने कार्य किया था। वनस्पति वर्ग में होने वाली प्रतिक्रियाओं को बसु-निर्मित यंत्रों की सहायता से प्रत्यक्ष देखकर प्रो० मॉलिश ने लिखा था—"ये सब परियों की कहानियों से भी अधिक आश्चर्यजनक हैं; परन्तु जिन्हें इन प्रयोगों को देखने का अवसर मिला है उन्हें पूरा विश्वास हो गया है कि ये प्रयोग-शाला के चमत्कार हैं जिनके द्वारा प्राणिवर्ग में होने वाली अदृश्य प्रतिक्रियाओं का रहस्योद्घाटन हो जाता है।"

अन्तकाल

१ दिसम्बर १९२८ ई० को बसु की सत्तरवीं वर्ष-गांठ मनाई गई। इस अवसर पर उन्हें देश और विदेश से बधाई के अनेक सन्देश मिले। इतनी आयु हो जाने पर भी वह निरंतर अन्वेषण में लगे रहते थे और अन्त समय तक कार्य में संलग्न रहे। उनकी मृत्यु गिरीडीह में २३ नवम्बर १९३६ ई० को हुई।

बसु की महानता

बसु की वैज्ञानिक देन ही उन्हें संसार के महापुरुषों की श्रेणी में रखने के लिए पर्याप्त है। किन्तु यह तो उनके जीवन का केवल एक पहलू है। वह कोरे वैज्ञानिक ही नहीं बल्कि एक लेखक और कलाकार भी थे। उनकी मृत्यु पर सर माइकेल सैडलर ने कहा था—"वह प्राणिशास्त्रज्ञों में कवि थे।" उनकी रचनायें बंग-भाषा के उत्कृष्ट साहित्य का नमूना है। उनके घर की और बसु इन्स्टीट्यूट की दीवारें गगनेन्द्रनाथ, अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल बसु इत्यादि

चित्रकारों की कृतियों से अलंकृत हैं। और इन सबसे ऊपर उनका वह भारतीय दृष्टिकोण है जिसने उच्चतम हिन्दू-दर्शन के साथ विज्ञान का समन्वय करके दिखला दिया।

व्यक्तिगत जीवन

वसु का जीवन अत्यंत सादा और उनका चरित्र अत्यन्त निर्मल था। एक प्रकार से वह त्याग और तपस्या की मूर्त्ति थे। पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा के सम्पर्क में रहकर भी उनकी पूर्वीयता अक्षुण्ण बनी रही। उनके कोई सन्तान नहीं हुई परन्तु उन्हें और उनकी सती-साध्वी पत्नी को कभी इसका खेद नहीं हुआ। पूत कपूत निकल जाय तो पिता के नाम को कलंकित करदे, परन्तु बसु के अनेक शिष्य सच्चे सपूतों की तरह उनकी कीर्त्ति और उनके कार्य को अग्रसर करने में तत्पर हैं।

दानशीलता

बसु की दानशीलता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वह अपनी आय का केवल पंचमांश अपने व्यक्तिगत उपयोग में लाते थे, बाकी सब विद्यार्थियों और शिक्षा-संस्थाओं को बांट देते थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में १५ लाख से अधिक रुपया सार्वजनिक कार्यों के लिए दिया। मृत्यु के उपरान्त भी वह अपनी बची-खुची सम्पत्ति वैज्ञानिक अन्वेषण, मद्य-निषेध, साहित्योन्नति, स्त्री-शिक्षा, पुस्तकालय, इत्यादि विविध कार्य के लिए दान करने की वसीयत कर गये। इससे उनके उदार हृदय और विस्तृत दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

बसु ने वैज्ञानिक जगत् में भारत का मस्तक ऊंचा करके दिखला दिया और बसु रिसर्च इन्स्टीट्यूट के रूप में अपना एक ऐसा स्मारक छोड़ दिया जो भारत के लिए एक महान् गौरव की वस्तु है।

हिन्दी मन्दिर, प्रयाग के प्रकाशन